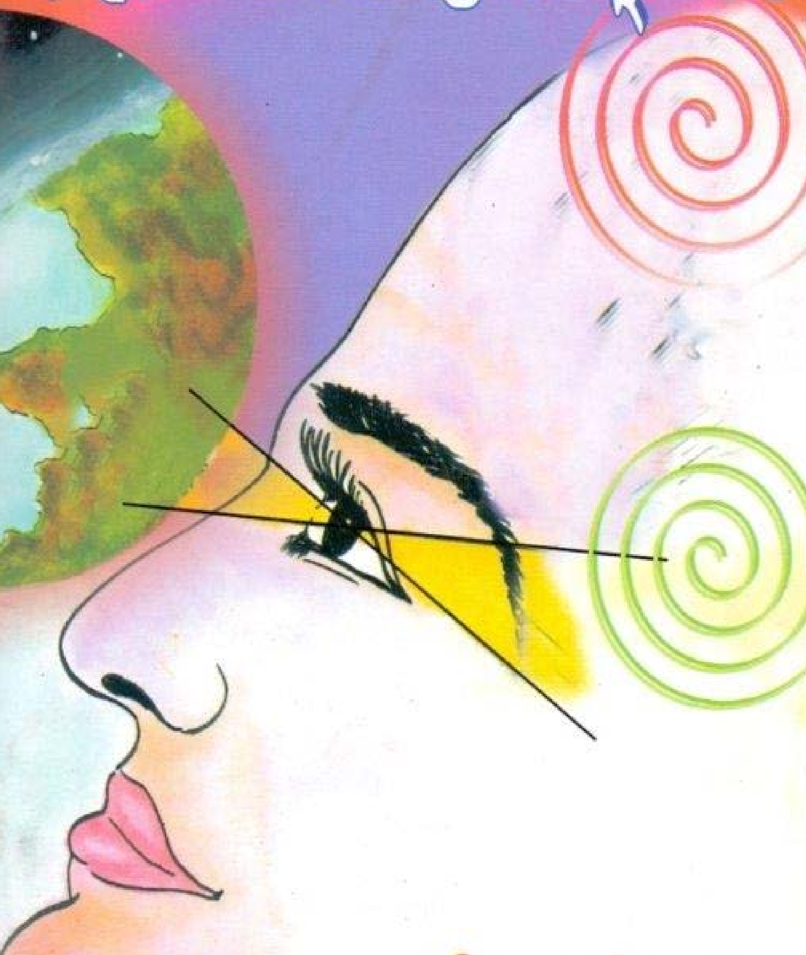
ब्रह्मविद्या का रहस्योद्घाटन



–श्रीराम शर्मा आचार्य

ब्रह्मविद्या का रहस्योद्घाटन

✷

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

✷

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१० मूल्य : १०.०० रुपये

भूमिका !

ब्रह्म को, आत्मा को, परमात्मा को प्राप्त करने की प्रणाली को ब्रह्मविद्या कहते हैं। इस ब्रह्मविद्या द्वारा मनुष्य अपने आप को परम शांतिपूर्ण अवस्था में ले पहुँचता है। उस ब्राह्मी स्थिति में पहुँचने पर आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करके तेजपुंज बन जाता है। उसे लौकिक और पारलौकिक अनेक सिद्धियाँ भी उपलब्ध होती हैं।

योगी, महात्मा, संत, सत्पुरुष, ब्रह्मविद्या की सहायता से दैवी संपत्तियों को तथा परमानंदमयी परिस्थितियों को किस प्रकार प्राप्त करते हैं ? इस रहस्य का इस पुस्तक में उद्घाटन-प्रकटीकरण किया गया है। विचारों की पवित्रता से, आत्मसाधन से तथा निराकुलता से आत्मशक्ति परिमार्जित एवं प्रचंड बनती है। ईश्वरीय अंशों के प्रविष्ट हो जाने से आत्मा में अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं और उनके द्वारा सिद्धित्व प्राप्त हो जाता है।

कठोर तपस्याएँ करने पर नाना प्रकार के अलौकिक बल प्राप्त होते हैं, पर साधारण गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी यदि विचारों को पवित्र, एकाग्र एवं शांत रखा जाए तो भी कितने ही लाभ होते हैं। इन लाभों को इस पुस्तक में अष्टसिद्धि और नवनिधि के रूप में उपस्थित किया गया है। ये लाभ भी इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि सांसारिक अन्य लाभों से इनकी तुलना नहीं की जा सकती।

ब्रह्मविद्या के लाभों को समझकर उसकी सरलता को देखकर तर्क और प्रमाणों से परिपूर्ण उसके वैज्ञानिक आधारों को देखकर, साधकों के अनेक भय और भ्रमों का निवारण होगा तथा वे इस पथ पर अग्रसर होने में अधिक तत्परता दिखाएँगे, ऐसी हमें आशा है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

ब्रह्मविद्या का रहस्योद्‌घाटन

विचारों की पवित्रता और सुव्यवस्था के लाभ

मानव शक्तियों के दो भाग हैं—एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म अथवा एक दृश्य दूसरा अदृश्य। दृश्य शक्तियाँ स्पष्ट और प्रकट होती हैं। बलवान मनुष्य का शरीर मोटा-ताजा, हट्टा-कट्टा, गठा हुआ और भारी साफ दिखाई पड़ता है। दिमागी बल खुद तो आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, पर उसे पहचाना आसानी से जा सकता है। डॉक्टर, वकील, पंडित, जज, अध्यापक, उपदेशक छिपते नहीं, ये योग्यताएँ थोड़ी खोज करने पर प्रकट हो जाती हैं। इसी प्रकार शिल्प, गीत, वाद्य, व्यापार, कला-कौशल आदि की योग्यताएँ कार्यों को देखकर या पूछकर जानी जा सकती हैं। मस्तिष्क सहित शरीर के अंग-प्रत्यंगों की योग्यताएँ स्थूल या दृश्य कही जाती हैं। ये प्रकट हैं और आसानी से उनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

सूक्ष्म शक्तियाँ वे हैं, जो आँखों से दिखाई नहीं पड़तीं और न मोटी बुद्धि से पहचानी जाती हैं। स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है इसलिए उसकी शक्तियाँ भी दिखाई देती हैं, किंतु सूक्ष्मशरीर अदृश्य है, इसलिए उसकी योग्यताएँ भी अदृश्य ही होती हैं, उनका पता सूक्ष्म परीक्षण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—ये चार अंग सूक्ष्मशरीर के माने गए हैं, पाठकों को सुविधा के लिए इनका विभाजन दो में किए देते हैं—एक विचार दूसरा

विश्वास। इस युग के मनोविज्ञानविशारद दो भागों में ही उसे बाँट रहे हैं। डॉक्टर फ्रायड प्रभृति विद्वानों ने अंत:चेतना के दो खंड किए हैं—एक बाह्य मन (Objective mind) दूसरा अंतर्मन (Subjective mind)। संख्या में कमी हो जाने से सूक्ष्म शरीर के संबंध में जानकारी प्राप्त करना पाठकों को अधिक सरल होगा। स्थूलशरीर की विवेचना के लिए शरीरशास्त्र, स्वास्थ्यशास्त्र, नीतिशास्त्र मौजूद हैं। दिमाग को शिक्षित करने के लिए अध्यापक, उपदेशक; कला-कौशल सिखाने के लिए शिक्षक, शरीर को बलवान एवं नीरोग बनाने के लिए चिकित्सक मौजूद हैं। शारीरिक उन्नति का दायरा बहुत विस्तृत हो गया है और उसकी शोध, विवेचना एवं शिक्षा-दीक्षा के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं।

जिस प्रकार दृश्य शरीर संबंधी अनेकानेक छोटी-बड़ी समस्याओं को सुलझाने का सुविस्तृत विज्ञान मौजूद है, उसी प्रकार अदृश्य शरीर की गुत्थियों को समझने और सुलझाने के लिए जो शास्त्र है, उसे अध्यात्मवाद कहते हैं। हमारे बुद्धिमान पूर्वजों ने चिरकालीन अनुसंधान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि बाह्य परिस्थितियों पर सुख-दु:ख या उन्नति-अवनति का होना निर्भर नहीं है, वरन उनका मूल कारण आंतरिक योग्यताओं में निहित है। एक मनुष्य सब प्रकार सुख सामग्री होते हुए भी दुखी रहता है, उन्नति करने योग्य परिस्थिति में भी नीचे ही गिरा रहता है, उत्तम स्वभाव के लोगों को भी शत्रुता करते हुए पाता है; इसके विपरीत दूसरा मनुष्य अभाव में भी सुख का अनुभव करता है, बुरी परिस्थितियों में भी आगे बढ़ जाता है और मूर्ख एवं दुष्ट लोगों को भी अपने लिए लाभदायक बना लेता है। इसका कारण आंतरिक योग्यता-अयोग्यता है। शारीरिक स्थिति अच्छी होने पर दूध, घी बलवर्द्धक सिद्ध होते हैं, किंतु आँतें कमजोर होने पर वह ही अतिसार, कोष्टबद्ध या

अजीर्ण उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार आंतरिक स्थिति अच्छी होने पर साधारण परिस्थितियाँ भी सुखदायक एवं उन्नति में सहायक सिद्ध होती हैं और भीतरी खोट होने पर भले अवसर भी दुःखदायी अनुभव होते हैं।

संसार में जिन सुखों की इच्छा की जाती है, वास्तव में वे किसी अन्य पदार्थ में नहीं, वरन अपने अंदर ही हैं। उनकी प्राप्ति अपना दृष्टिकोण सुधार लेने से संभव है। इस महान सत्य को भली प्रकार परख लेने के उपरांत मानव दुःखों में वृद्धि करने की इच्छा से तत्त्वदर्शी ऋषियों ने अध्यात्मशास्त्र की विशद विवेचना की है। पिछले कुछ अधिक समय में भौतिक विज्ञानवादियों ने आत्मा के अस्तित्व से इनकार करके अध्यात्मशास्त्र की उपयोगिता को अस्वीकार कर दिया था, पर कुछ अधिक खोज करने पर उन्हें अपनी भूल प्रतीत हो गई और 'मनोविज्ञानशास्त्र' के नाम के अध्यात्मवाद का नवीन संस्करण करना पड़ा। अब 'मनोविज्ञानशास्त्र' उन्नति करता जा रहा है और वह उन्नति निरंतर प्राचीन अध्यात्मवाद की पुष्टि की ओर ही बढ़ती जा रही है।

विचार और विश्वास इन दो विभागों में विभाजित करते हुए आंतरिक शरीर का कुछ परिचय पाठकों को पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। अध्यात्मवाद की सारी रचना इन्हीं दो तथ्यों पर अवलंबित है। दृष्टिकोण का निर्माण और साधना—ये दो कार्य प्रणालियाँ विचार और विश्वासों को पुष्ट करने वाली हैं। स्वाध्याय, कथा श्रवण, पुस्तक पाठ, उपदेश ग्रहण, सत्संग की व्यवस्था, विचारों को परिमार्जित करने के लिए है और तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान, संध्या, पूजा, जप, अनुष्ठान की व्यवस्था विश्वासों को दृढ़ बनाने के लिए है। दृश्य जगत में शरीर और मस्तिष्क को पुष्ट करने के लिए नाना प्रकार के आयोजन हैं, उसी प्रकार विभिन्न तरह की आध्यात्मिक

प्रक्रियाएँ विचार और विश्वासों को शक्ति संपन्न बनाने के उद्देश्य से निर्मित हुई हैं।

आपने रेडियो यंत्र अवश्य देखा होगा। दिल्ली, कोलकाता, मुंबई, लंदन, न्यूयार्क आदि स्थानों पर उच्चारण किए हुए शब्द पलक मारते-मारते यहाँ तक दौड़े आते हैं। रेडियो यंत्र अपनी बिजली के कारण उन शब्दों को पकड़कर मशीन के भीतर ले जाता है और उन्हें ज्यों-का-त्यों सुना देता है। नाच-गाने, बात-चीत, हँसना-रोना आदि सब ध्वनियाँ ज्यों-की-त्यों सुनाई देती हैं। बेतार के तार के निर्माता मारकोनी ने मालूम किया था कि अखिल ब्रह्मांड में 'ईथर' नामक एक महातत्त्व व्याप्त है, उसमें शब्दों की लहरें बहती रहती हैं। जैसे किसी तालाब में पत्थर फेंकने पर पानी उछलता है और फिर वह लहरों का रूप धारण करके वहाँ से चलता है, जहाँ तक कि पानी का छोर होता है। समस्त ब्रह्मांड में ईथरतत्त्व व्याप्त है, उसमें शब्दों की लहरें चलती हैं और वह बड़ी तीव्र गति से एक सेकंड में हजारों मील की चाल से बहती रहती हैं। इतना जान लेने के बाद मारकोनी को एक आधार मिल गया। उसने दो प्रकार के यंत्र बनाए—एक तो ऐसा जो शब्द के साथ में कुछ विशेष प्रकार के विद्युत परमाणुओं को अपनी शक्ति से पकड़ लेता था। मारकोनी का कहना था कि इस कार्य में कोई बहुत बड़ा आश्चर्य नहीं है, बेतार के तार का यंत्र भी कोई बहुत कीमती चीज नहीं है—यह सब काम बहुत मामूली कलपुरजों से होता है, आश्चर्यजनक खोज केवल ईथरतत्त्व और उसकी क्रियाशीलता के बारे जानकारी प्राप्त करने की थी।

यह तो हुई जड़ रेडियो की बात। अब चैतन्य रेडियो की बात सुनिए—यह मनुष्य का मस्तिष्क है। यह चैतन्य रेडियो जड़ रेडियो की अपेक्षा कई दृष्टियों से उत्तम है। मामूली रेडियो दूसरी जगह के

शब्दों को सुना सकता है, पर उसके द्वारा दूसरी जगह खबर नहीं भेजी जा सकती, किंतु मनुष्य का मस्तिष्क दोनों काम करता है—टेलीफोन के द्वारा जैसे आवाज को कहा जाता है और सुना भी जाता है। इसी प्रकार मस्तिष्क द्वारा अखिल ईश्वरतत्त्व में बहने वाले विचारों को ग्रहण भी किया जाता है और अपने विचारों को उसमें फेंका भी जाता है। मस्तिष्क विचारों का यंत्र है, इसमें अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और वे ढेला फेंकने से पानी में उत्पन्न होने वाली लहर की तरह विश्वव्यापी अखिल ईथरतत्त्व में बहने लगते हैं और चारों ओर फैल जाते हैं। वैज्ञानिकों ने विचारों की लहरों को देखने का यंत्र निकाल लिया है। यह फोटो खींचने के कैमरे की तरह है। एक युवक किसी सुंदरी के चिंतन में डूबा हुआ था, उसके मस्तिष्क के पास यंत्र रखकर फोटो लिया गया तो सुंदरी की तसवीर खिंच गई। इसी प्रकार क्रोध, क्षोभ, शांति, प्रेम, विरह, खुशी, निराशा आदि भावनाओं के फोटो खिंचने लगे हैं। रंग और आकृतियों की भिन्नता के कारण उन विचारों को साफ-साफ पहचान लिया जाता है, फोटो को देखकर यह भली भाँति प्रकट हो जाता है कि वह व्यक्ति क्या सोच रहा था?

गरमी पाकर पानी भाप बनता है, यह भाप हवा में इधर-उधर उड़ती हुई अन्य भाप के साथ मिलकर बादल का रूप धारण करती है। इसी प्रकार मस्तिष्क में से निकले हुए विचार ईथर में उड़ते हैं और लोगों के छोड़े हुए अपने समान अन्य विचारों के साथ मिलकर एक प्रकार के बादल का रूप धारण कर लेते हैं। ये विचार-बदलियाँ इधर-उधर उड़ती-फिरती हैं, जैसे ही कोई व्यक्ति कहीं उसी प्रकार के विचार करता है और उस विचार में कुछ सोचता है, वैसे ही मस्तिष्क में एक आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है और उसके खिंचाव से वे उड़ती हुई विचार-बदलियाँ उस

मनुष्य के पास दौड़ आती हैं। कोई आदमी किसी बात को सोचता है, तो उसे उस संबंध में अनेक नई बातें मालूम होने लगती हैं। जितना गहरा सोच-विचार किया जाता है, उतना ही ज्ञान अपने आप को मिलता जाता है। यह नई बातें कैसे मालूम हुईं? बात यह है कि जिसने अपने मस्तिष्क को आकर्षण शक्ति से युक्त बनाया, उसके पास बहुत-से उसी प्रकार के विचार खिंच आए और उसने उन्हें अपना लिया। सोचने पर जो नई-नई बातें मालूम होती हैं, वह कितने ही मनुष्यों की विभिन्न अवसरों पर सोची हुई चीजें होती हैं, मस्तिष्क उन्हें पकड़ लेता है और ख्याल करता है कि मेरी समझ में यह नई बात आ गई। मस्तिष्क में जहाँ विचार फेंकने की शक्ति है, वहाँ ऐसी भी शक्ति पर्याप्त मात्रा में मौजद है, जो अपनी इच्छित विचार सामग्री को ईथर में से खींच सके।

रेडियो एक सावधानी से काम लेने की वस्तु है। जिन चीजों की सावधानी रखना आवश्यक है, उनके लिए लाइसेंस लेना पड़ता है। जहर, बंदूक, बारूद, हथियार, नशीली चीजें, रेडियो—इन सबका लाइसेंस लेना पड़ता है और सरकार को विश्वास दिलाना पड़ता है कि इन वस्तुओं का सदुपयोग करेंगे, जो इन चीजों का दुरुपयोग करता है, उसका लाइसेंस जब्त कर लिया जाता है और सजा भुगतनी पड़ती है। जर्मनी जापान से भेजे हुए खराब समाचारों को फैलाने में रेडियो का उपयोग करें, तो सरकार लाइसेंस जब्त कर लेगी और दंड देगी। इसी प्रकार मस्तिष्क रूपी बहुमूल्य और अपार शक्ति वाले रेडियो का ईश्वर ने आपको लाइसेंस दिया है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करने के लिए पूरी सावधानी चाहिए, अन्यथा अनर्थ हो जाएगा और भारी हानि उठानी पड़ेगी।

आप जैसे भले-बुरे विचार करते हैं, वे चिरकाल तक जीवित रहते हैं और अपनी शक्ति से दूसरों को प्रभावित करते रहते हैं।

यदि आप ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध, घात-प्रतिघात, छल-कपट के विचार किया करते हैं, तो उनकी जो तरंगें बनेंगी, वे संसार में अनेक लोगों को उसी दशा में उकसावेंगी। मान लीजिए एक मनुष्य के क्रोधयुक्त विचार उसके पास जा पहुँचे, दोनों के मिल जाने से उसका क्रोध उमड़ पड़ा और आवेश में आकर उसने किसी की हत्या कर डाली, तो समझ लीजिए कि ईश्वर के यहाँ आप भी उसकी हत्या में भागीदार ठहराए जाएँगे। इसी प्रकार यदि प्रेम, दया, उदारता, दान, ईमानदारी, सेवा के विचार करते हैं, तो उनकी तरंगें किसी-न-किसी को प्रभावित करेंगी ही। धर्म के थोड़े विचार किसी के मन में उठ रहे थे, उसी समय आपके विचारों ने उसे और अधिक उत्साहित किया, उस उत्साह में उसने जो धर्म कार्य किया है, उसमें से आपको भी हिस्सा मिलेगा। शरीर से जो भले-बुरे काम किए जाते हैं, उनका फल मिलता है। इसी प्रकार मन से जैसे विचार किए जाते हैं, उनका भी परिणाम भुगतना पड़ता है। कई महात्मा शरीर से अधिक सेवा कार्य नहीं करते, परंतु विचार विज्ञान के गुप्त रहस्य को समझकर आध्यात्मिक बल के साथ उच्च कोटि की पवित्र विचारधारा प्रवाहित करके मौन रूप से संसार की बड़ी भारी सेवा करते हैं। यदि आप विचारों को सात्त्विक बना लेते हैं, दुर्भावनाओं को हटा देते हैं, अपने आप को सच्चा, ईमानदार, भला, निष्कपट, सेवाभावी, परोपकारी, न्यायपरायण, सत्यनिष्ठ बना लेते हैं, दूसरों के लिए हितचिंता, कल्याण कामना, सद्बुद्धि रखते हैं तो निस्संदेह एक महान यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। यह अदृश्य साधना अत्यंत पुण्यमय है। विचारों का पवित्र रखना, बुरी भावनाओं का भीतर प्रवेश न करने देना ऐसा पुनीत कर्म है, जिसकी तुलना में बड़ी-बड़ी खैरातें तुच्छ गिनी जाएँगी।

अध्यात्मवाद विचारों की शक्ति के इस महान रहस्य का उद्‌घाटन करता है और बताता है कि पुण्य और पाप का सर्वोच्च केंद्र अपना मस्तिष्क है। बाहरी कार्य अच्छे करता हुआ दिखाई दे, किंतु उसका मन नीच वासनाओं से भर रहा हो, तो उन अच्छे कर्मों का तात्त्विक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति पवित्र भावना से, सदिच्छा से ऐसा काम करता है, जो देखने में पुण्य नहीं है तो भी तत्त्वतः यह पुण्य ही गिना जाएगा। एक गरीब आदमी जो जीवन भर में संभव है कि एक-दो रुपया भी दान न कर पाया हो। यदि पवित्र अंतःकरण वाला है, तो दंभ एवं स्वार्थ वृत्ति से लाखों रुपया दान करने वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परलोक में उस गरीब की कमाई ही अधिक भारी बैठेगी।

ध्यान को एकाग्र करना, चित्त को रोकना, मन का संयम—ये सब विचार वृत्तियों को कुपंथ पर जाने से रोककर पवित्रता में तल्लीन रखने के लिए हैं। उससे जो असाधारण लाभ होते हैं, वे पाठकों के सामने हैं। विचारों की पवित्रता से (१) अपार मात्रा में पुण्य संचय होता है। (२) विचारों के अनुसार स्वभाव और कार्य भी अच्छे बनते हैं। (३) संसार की नश्वरता समझ में आने से वैराग्य भाव उत्पन्न होता है और मानसिक दुःखों का अंत हो जाता है। (४) अच्छे विचारों से आत्मसंतोष रहता है। इन लाभों के कारण लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के आनंदों में वृद्धि होती है। क्रोध, चिंता, शोक, उद्विग्नता आदि मानसिक आवेशों से दिमाग सुरक्षित रहता है, दूषित विचारधारा के कारण चित्त में हर घड़ी भय, आशंका, चिंता, व्याकुलता के उफान आते रहते हैं, जिससे दिमाग स्थिर नहीं रह पाता। ऐसी दशा में किसी विषय पर ठीक-ठीक निर्णय करने की योग्यता उसमें नहीं रहती। कल्पना शक्ति, धारणा शक्ति, स्मरण शक्ति, निर्णय शक्ति, विवेचन शक्ति सभी अस्त-

व्यस्त हो जाने के कारण मनुष्य अर्द्ध विक्षिप्त दशा को पहुँच जाता है। इस प्रकार के मनुष्यों का जीवन अपने लिए और दूसरों के लिए आनंददायक नहीं हो सकता।

आवेश रहित मस्तिष्क ही आनंदमय जीवन का पथ प्रदर्शन कर सकता है। स्थिर और स्वस्थ चित्त से ही भीतरी और बाहरी समस्याओं का ठीक स्वरूप समझा जा सकता है और उन्हें सुलझाया जा सकता है। सफलता के पथ पर बढ़ने के लिए धैर्य, साहस, उत्साह, दृढ़ता, लगन, परिश्रम एवं प्रतिज्ञा की आवश्यकता होती है, ये सद्गुण स्वस्थ चित्त वाला ही अपने में रख सकता है, विकारों की उत्तेजना क्षण-क्षण में जिसे अस्थिर बनाए रहती है, उस अनिश्चित व्यक्ति में इन गुणों का टिकना मुश्किल है। वह बार-बार इधर-उधर ढुलकता है, नियत लक्ष्य पर बढ़ने में मानसिक आवेश बार-बार विक्षेप उत्पन्न करते हैं और वह सफलता से वंचित रह जाता है।

महर्षि पतंजलि ने 'चित्त वृत्तियों का निरोध' को योग कहा है। इस निरोध का तात्पर्य यह है कि सांसारिक अनुभूतियों के कारण जो मानसिक आवेश उत्पन्न होते हैं, उनको काबू से बाहर न होने दिया जाए। ऐसा न हो कि क्रोध, शोक, लोभ आदि का इतना आधिपत्य हो जाए कि विवेक-बुद्धि का उनके आगे कुछ वश न चले और इन आवेशों के वशीभूत सारे कार्य होने लगें। इस प्रकार जो कार्य होंगे, वे निश्चय ही बड़े दुःखदायी और क्लेशकारक होंगे। यदि आवेशों पर नियंत्रण रखा जाए, उनको जितना चाहें, उतना बढ़ाने देने और जब चाहें तब रोक देने की योग्यता अपने अंदर हो। घोड़े की लगाम की तरह आवेशों का शासन हाथ में रहे तो ऐसा सुखकर परिणाम निकल सकता है कि जीवन में चारों ओर आनंद-ही-आनंद उमड़ पड़े।

राजा जनक, तुलाधार वैश्य आदि अनेक साधारण गृहस्थ उच्च कोटि के योगी हुए हैं और अब भी हैं। इन गृहस्थों से बड़े-बड़े संन्यासियों को शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता होती है; जैसे श्री शुकदेव जी ने राजा जनक से ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त की थी। मन को वश में करने का और कुछ प्रयोजन नहीं है। यह समझना भूल है कि मन सदैव एक ही बात को सोचता रहेगा, एक ही स्थान पर स्थिर रहेगा। कुछ क्षणों के लिए ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है। पर एक ही स्थान पर रहे, ऐसा नहीं हो सकता। उसकी रचना ही ऐसी हुई है कि विभिन्न दिशा में उसका दौड़ना आवश्यक और अनिवार्य है। मन का निरोध यह है कि सांसारिक घटनाओं के प्रभाव की उत्तेजना से दिमाग को बेकाबू न होने दिया जाए। कैसी ही विपत्ति आई हो, कैसी ही अप्रिय परिस्थिति हो, पर मानसिक स्थिरता को कायम रखा जाए और जो कुछ कहा जाए या किया जाए आवेशपूर्वक नहीं, वरन भली प्रकार सोच-समझ के साथ, विवेक-बुद्धि के साथ हो।

आंतरिक शरीर की स्वस्थता, पुष्टि और उन्नति का पहला मार्ग यह है कि विचारों को भलीभाँति नियंत्रण में रखा जाए। ठगी, बेईमानी, शोषण, हिंसा, अन्याय, अत्याचार, धोखा, आदि पापपूर्ण इच्छाएँ मन में न आने दी जाएँ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक के आवेशों को काबू से बाहर न जाने दिया जाए, तो यह मानसिक नियंत्रण अनेकानेक गुप्त-प्रकट, दृश्य-अदृश्य मार्गों से जीवन के सुखों में आशातीत वृद्धि कर सकता है। योग-साधना आनंद-वृद्धि के लिए है, यह प्रत्यक्ष ही प्राप्त होता है। सुख का उद्गम स्थान मन है, मन को सुखदायक स्थिति में रखना यही योग है। चित्त वृत्तियों के ऊपर काबू रखने से, विवेक-बुद्धि के शासन में मन के आवेशों

को रखने से, वही आनंददायक स्थिति प्राप्त होती है, जिसका रसास्वादन योगीजन करते हैं।

आप बाहरी शरीर को उन्नतिशील बनाना चाहते हैं, उस उन्नति की प्रेरणा भीतरी शरीर की स्वस्थता द्वारा मिलती है। विचारों की पवित्रता और सुव्यवस्था आंतरिक स्वास्थ्य का प्रथम मार्ग है। इससे आप अपने मस्तिष्क के ऊपर काबू पाने का प्रयत्न करिए, मन को वश में करिए, ऐसा करने से निस्संदेह अपने बाह्य जीवन को आनंदमय बना सकेंगे।

पवित्र विचारों से हमारा अणु-अणु प्रबल बनता है। शरीर में छिपे हुए विष, रोग-कीटाणुओं की अपवित्रता दूर होती है, बुद्धि की मलिनता हटती है, चित्त के ऊपर अधिकार जमाए हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, चिंता आदि आंतरिक शत्रुओं की सत्ता मिटती है। भीतर और बाहर जो मलिनता छाई रहती है, वह अनेक प्रकार के रोग, शोकों की जड़ है, उसी से ब्रह्मतेज नष्ट होता है। यदि हम विचारों की अपवित्रता को हटा दें, तो अनेक प्रकार की मलिनताएँ, अयोग्यताएँ, कमजोरियाँ, बाधाएँ अपने आप दूर हो जाती हैं। अपवित्रता के प्रतिरोधों का शमन होते ही आध्यात्मिक विकास बड़ी तेजी से होता है और मनुष्य ब्राह्मी स्थिति को सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेता है। विचारों की पवित्रता, अंतःकरण की निर्मलता, ब्रह्मविद्या का सर्वोपरि रहस्य है।

ब्रह्मप्राप्ति के दो साधन

[एकाग्रता और निराकुलता]

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने के लिए, जीवन-लक्ष्य को वेधने के लिए चित्त की स्थिरता ही आवश्यक है। बंदूक चलाने वाले जानते हैं कि लक्ष्य पर पूर्ण एकाग्रता के साथ निशाना साधने से ही गोली ठीक स्थान पर बैठती है। इस समय यदि जरा भी चित्त इधर-उधर चला गया, तो निशाना चूकने में देर नहीं लगती। द्रोणाचार्य जब कौरव और पांडवों को धनुष विद्या सिखाते थे, तो एक दिन परीक्षा के लिए उन्होंने अपने सब शिष्यों को बुलाया और एक लकड़ी की चिड़िया पेड़ पर बैठाकर उस पर निशाना सधवाया। तीर छोड़ने से पहले गुरुजी उस शिष्य से पूछते—"बेटा! बताओ तो तुम्हें निशाने के स्थान पर क्या-क्या दिखाई पड़ता है?" निशान साधने वाला कहता—"गुरुजी! मुझे पेड़ की डाली, पत्ते और चिड़िया दीखती हैं।" गुरुजी उससे धनुष रखवा लेते और दूसरों को बुलाते। संतोषजनक उत्तर न मिलने पर उनसे भी धनुष रखवा लेते। अंत में अर्जुन की बारी आई, उससे भी वही प्रश्न पूछा गया। अर्जुन ने उत्तर दिया—"गुरुजी! मुझे केवल चिड़िया की गरदन दीखती है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता।" गुरुजी ने कहा—"निशाना छोड़ो।" बाण छोड़ा गया और निशाना ठीक लगा। तब गुरुजी ने शिष्यों को लक्ष्यवेध का गुप्त रहस्य बताते हुए कहा—"चित्त की स्थिरता ही सफलता की कुंजी है। जिसका ध्यान एक वस्तु पर केंद्रित होगा, वह उसे प्राप्त कर लेगा। जिसका मन अस्थिर होगा, यह अभीष्ट स्थान तक न पहुँच सकेगा।"

आतिशी शीशे के द्वारा एक केंद्रबिंदु पर सूर्य की किरणें एकत्रित की जाती हैं। फलस्वरूप वह बिंदु अत्यंत गरम हो जाता है और उस

बिंदु के नीचे जो चीज रखी हुई हो, वह जलने लगती है। फैली हुई निर्मल वस्तु का भी केंद्रीकरण कर देने से उससे प्रचंड शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मन में भरी हुई अनेकानेक शक्तियों को एक स्थान पर केंद्रीभूत कर देने का भी ऐसा ही चमत्कारपूर्ण प्रभाव होता है। जिस काम को पूरे मन से स्थिरतापूर्वक किया जाता है, वह असाधारण रूप से चमकने लगता है। एक स्थान पर चित्त वृत्तियों के केंद्रीभूत हो जाने से वहाँ चतुरता, बुद्धिमत्ता, सफाई, सुंदरता, शीघ्रता, सावधानी का जमघट इकट्ठा हो जाता है। एक-से-एक अच्छी युक्ति एवं कार्य प्रणाली सूझ पड़ती है। नई-नई पगडंडियाँ निकल आती हैं। सफलता प्राप्त करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, उन्हें उपलब्ध करने के लिए कई मार्ग सामने आ जाते हैं। परंतु यदि मानसिक एकाग्रता न हो तो नई युक्तियाँ नहीं सूझ पड़तीं और कुशलता एवं उत्तमता प्रकट करने वाली क्रियाशक्ति प्रस्फुटित नहीं होती। फलस्वरूप सफलता की संभावना कुंठित हो जाती है।

'एक समय में एक काम' करने का सुनहरा सिद्धांत जिसने अपना लिया, समझिए कि जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने का एक बहुत ही मूल्यवान शस्त्र उसके हाथ आ गया।

एक अँगरेजी की कहावत है कि "जब तुम काम करो, तब केवल काम करो और जब खेलो तब केवल खेलो।"

भावार्थ यह है कि एक समय में एक काम करो, एक समय में कई काम करने से शक्तियाँ कई तरफ बँट जाती हैं और एक भी काम ठीक तरह नहीं हो पाता। काम कुछ हो रहा है और मन कहीं पड़ा है, यह स्थिति मनुष्य को लुंज-पुंज कर देती है। इसके कामों को फूहड़पन, अपूर्णता एवं सदोषता से मार देती है। चित्त की अस्थिरता एवं चंचलता एक ऐसा ऐब है, जो कितने ही सद्गुणों को निरर्थक बना देता है। आँधी या तूफान के वेग में जैसे कागज-पत्र

पत्तों की तरह उड़ जाते हैं, वैसे ही मन में अस्थिरता की लहरें उठते रहने से चिरसंचित योग्यता अस्त-व्यस्त हो जाती है। कुशल-से-कुशल कारीगर जब अस्थिर चित्त से काम करते हैं, तो उनकी बनाई हुई चीजें गिरे दर्जे की तैयार होती हैं। इस प्रकार कोई साधारण दर्जे का कारीगर जब पूर्ण मनोयोग के साथ एकाग्र होकर जुटता है, तो साधारण साधनों की सहायता से भी ऊँचे दर्जे की प्रशंसनीय वस्तुएँ बना सकने में सफल होता है।

मन और शरीर इन दो का संयोग हो जाने से १+१=११ की उक्ति चरितार्थ होती है। एक शरीर + एक शरीर = दो शरीर होते हैं। परंतु एक मन और एक शरीर का समन्वय कम-से-कम ग्यारह गुनी अधिक शक्ति का निर्माण करता है। पूरा काम पूरे मनुष्य से होता है। पूरा मनुष्य तब बनता है, जब वह मन और शरीर एकत्रित होकर काम कर रहे हों। जब शरीर और मन दोनों निद्रा में निमग्न होते हैं, तब वह 'मृतक' जैसी अवस्था होती है। जब शरीर सो रहा हो, मन जाग रहा हो तो वह 'तंद्रा' है। जब शरीर और मन जागते तो हों, पर असंबंध हों तो वह अवस्था पूर्ण अवस्था है, किंतु जब चित्त और देह का पूर्ण एकीकरण एवं सहयोग होता हो, तो वह चैतन्य या जागरूक दशा कहलाती है। उस स्थिति में मनुष्य जो भी काम करता है, उसमें प्राय: सफलता ही मिलती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर 'एक समय में एक काम' करने का सिद्धांत निर्धारित किया गया।

यह स्वर्णिम सिद्धांत हर एक को सदा याद रखना चाहिए कि एक समय में एक काम करेंगे। जब भोजन करना हो तो सारी चित्त वृत्तियों को एकत्रित करके सामने परोसे हुए भोजन के मधुर स्वाद का आस्वादन करते हुए, उसके स्वास्थ्यप्रद गुणों का स्मरण करते हुए, प्रसन्नतापूर्वक उसे उदरस्थ करना चाहिए। जब बाल-

बच्चों में खेलना हो, तो सारी दिलचस्पी से उनकी मधुर बातें सुनो और अपनी कहो, जब हिसाब-किताब करने बैठो तो पूरे अर्थशास्त्री बन जाइए। जब भजन का समय आए, तो संपूर्ण एकाग्रता उसी कार्य में होनी चाहिए। खेलते समय पक्के खिलाड़ी और भाषण काल में प्रभावशाली वक्ता होना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है, जब चित्त स्थिर हो, वह कूद-फाँद न कर रहा हो। कई वक्ता किसी अच्छे विषय पर भाषण देते हैं, पर बीच-बीच में उनकी प्रवाह शृंखला टूट जाती है। अभी एक बात की व्याख्या कर रहे थे, वह बात पूरी न हो पाई कि दूसरी बात चल पड़ी और फिर वह भी अधूरी रह गई। इस प्रकार अनेक अधूरी बातों से भरा हुआ भाषण एक बकवास मात्र रह जाता है। श्रोताओं पर उनका कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। इस अधूरेपन के दोष के कारण कितने ही वक्ताओं की वक्तत्व शक्ति का महत्त्व नष्ट हो जाता है। यह दोष चित्त की अस्थिरता का प्रतीक है। मन बार-बार उचट जाता है। कहीं-से-कहीं पहुँचता है। नियत निर्धारित क्षेत्र से छलाँग मारकर वह कुछ-से-कुछ विषय उपस्थित कर देता है। बेचारा वक्ता मन को एक स्थान पर केंद्रीभूत रखने की कला से अनभिज्ञ होने के कारण पीछे-पीछे इधर-उधर भागता-फिरता है और अपना उपहास कराता है।

न केवल वक्ताओं के ऊपर वरन हर एक दिशा में काम करने वालों के ऊपर यह बात लागू होती है। चंचल चित्त वाला सदा असावधान, भुलक्कड़ एवं गलती करने वाला होता है। इन दोषों वाला डॉक्टर अपने रोगी के लिए एक खतरा हो सकता है। ऐसा व्यापारी भारी घाटे के चक्कर में फँस सकता है। ऐसा वकील मुकदमे को हरा सकता है। ऐसा विद्यार्थी फेल हो सकता है। भिखारी से लेकर राजा तक और चोर से लेकर ब्रह्मज्ञानी तक, जितनी भी

स्थितियों के आदमी हैं, वे अपने-अपने काम को तभी सुचारु रूप से चला सकते हैं, तभी समृद्ध एवं सफल हो सकते हैं, जब शरीर के साथ-साथ उनका मन भी नियत कार्य में समान रूप से सहयोग करता है।

चित्त की एकाग्रता कोई बहुत बड़ी एवं बहुत कड़ी बात नहीं है। यदि नित्यप्रति छोटे-छोटे कार्यों को दिलचस्पी से करने का प्रयत्न किया जाए, तो कुछ दिनों में वैसी आदत बन सकती है। जिनको एक नियत प्रकार की दिनचर्या के साथ अपना दिन व्यतीत करना पड़ता है, उन्हें अपना दैनिक कार्यक्रम बना लेना चाहिए और जब जो काम करना नियत हो, इस समय पर शरीर और मन को साथ-साथ प्रवृत्त करना चाहिए। जब मन को छुट्टल रखा जाता है, तो उसे इधर-उधर उछलने-कूदने की आदत पड़ जाती है। यदि मन को सुसंयत रखना है, उसे एकाग्र करने के लिए साधना है, तो जब जो कार्य शरीर को करना हो, उसमें दिलचस्पी के साथ मन को लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ दिन में ऐसी आदत पड़ जाती है कि मन शरीर के साथ काम करने लगता है। फिर उस व्यक्ति के सब काम सुस्थिरता के साथ सुचारु रूप से होने लगते हैं और समृद्धि की दिशा में उसके कदम तेजी से बदलने लगते हैं।

अकुलाना, बेचैन होना, घबराना, मानसिक संतुलन को डाँवाडोल कर देना एक प्रकार से मस्तिष्कीय तूफान उत्पन्न करना है। जैसे तूफान के गर्द-गुबार में आँखें ठीक काम नहीं करतीं, रास्ता ठीक प्रकार नहीं दीखता, वैसे ही मन की बेचैनी की दशा में, वास्तविक स्थिति को समझने और उसके निराकरण का समुचित मार्ग ढूँढ़ने में बुद्धि सर्वथा असमर्थ रहती है। जैसे ज्वार-भाटा के समय उछलते हुए पानी का स्तर डाँवाडोल रहता

है, वैसे ही आकुलता के समय विवेक का स्तर अस्थिर रहता है। ऐसी दशा में उसके द्वारा उचित निर्णय नहीं किया जा सकता। उचित कार्यक्रम निर्धारित नहीं हो सकता। उछलते हुए पानी में सूर्य-चंद्र आदि का भी प्रतिबिंब दिखाई नहीं पड़ता, पर ठहरे हुए पानी में अपने चेहरे का भी प्रतिबिंब ठीक प्रकार देखा जा सकता है। इसी प्रकार आकुल अवस्था में मोटी बातें भी नहीं, सूझ पड़ती, जब कि निराकुल अवस्था में बारीकियों का भी निराकरण हो जाता है।

किसी आदमी को उछाला, पटका, गिराया, उठाया, घसीटा, दबाया या तनाया जाए, तो उस दशा में उसे कष्ट-ही-कष्ट होगा। सुख-शांति पूर्ण निद्रा तो ऐसी दशा में आ ही नहीं सकती। जब इंद्रियों पर से अनावश्यक दबाव हट जाता है, तभी तो शरीर आराम का अनुभव करेगा। आत्मा की भी यही स्थिति है, जब वह भय, शोक, उद्वेग, क्रोध, द्वेष, चिंता, अहंकार, हर्ष आदि आवेशों में ग्रसित होती है, तो इन आघातों के कारण उसे क्षण भर भी चैन नहीं मिलता, वरन हर घड़ी व्यथा एवं वेदना से भरी हुई कराह उठती रहती है। आवेशों की आकुलता एक प्रकार की आध्यात्मिक जूड़ी-ताप है, जिसके चढ़ आने पर मनुष्य अंड-बंड बकता है। अंधाधुंध पानी पीता है, पीला मूँतता है, भूख सर्वथा उड़ जाती है, चेहरा लाल हो जाता है, निद्रा गायब हो जाती है, मन में न जाने क्या-क्या कल्पनाएँ आती हैं, उसमें विशेष प्रकार के भयंकर लक्षण प्रकट हो जाते हैं। शोक, क्रोध, द्वेष, अहंकार, अमीरी आदि की आध्यात्मिक जूड़ी चढ़ आने की दशा में भी मनुष्य अर्द्ध विक्षिप्त हो जाता है। ऐसी दशा में वह न सोचने लायक बातें सोचता है और न करने लायक काम करता है। तिजारी के रोगी की गाँठ-गाँठ में जैसे हड़फूटन होती है; आवेशों से बेचैन मनुष्य के मनोलोक

में ऐसी ही हड़फूटन होती है, जिससे उसकी समस्त आत्मिक शांति नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

आवेशों की अशांत दशा में कोई व्यक्ति न तो सांसारिक उन्नति कर सकता है और न आध्यात्मिक। कारण यह है कि उन्नति के लिए ऊँचा उठाने के लिए, आगे बढ़ने के लिए, जिस बल की आवश्यकता होती है, वह बल मानसिक अस्थिरता के कारण एकत्रित नहीं हो पाता। जब हाथ काँप रहा हो, उस समय बंदूक का ठीक निशाना नहीं साधा जा सकता। आवेश की दशा में मानसिक कंपन की अधिकता रहती है। उस उद्विग्नता की दशा में यह नहीं सूझ पड़ता कि क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए?

अधीर होना, हृदय की संकीर्णता और आत्मिक बालकपन का चिह्न है। बच्चे जब बाग लगाने का खेल-खेलते हैं, तो उनकी कार्य प्रणाली बड़ी विचित्र होती है। अभी बीज बोया, अभी उसमें खाद-पानी लगाया, अभी दो-चार मिनट के बाद ही बीज को उलट-पलट कर देखते हैं कि बीज में से अंकुर फूटा या नहीं। अब अंकुर नहीं दीखता तो उसे फिर झाड़ देते हैं और दो-चार मिनट बाद फिर देखते हैं। इस प्रकार कई बार देखने पर भी जब वृक्ष उत्पन्न होने की उनकी कल्पना पूरी नहीं होती, तो दूसरा उपाय काम में लाते हैं। वृक्षों की टहनियाँ तोड़कर मिट्टी में गाड़ देते हैं और उससे बाग की लालसा को बुझाने का प्रयत्न करते हैं। उन टहनियों के पत्ते उठा-उठाकर देखते हैं कि फल लगे या नहीं। यदि दस-बीस मिनट में फल नहीं लगते तो कंकड़ों को डोरे से बाँधकर उन टहनियों में लटका देते हैं। इस अधूरे बाग से उन्हें तृप्ति नहीं मिलती। फलतः कुछ देर बाद उस बाग को बिगाड़-बिगूड़ कर चले आते हैं। कितने ही जवान और वृद्ध पुरुष भी उसी प्रकार की बाल-क्रीड़ाएँ अपने जीवन-क्षेत्र में किया करते हैं।

किसी काम को बड़े उत्साह से आरंभ करते हैं। इस उत्साह की अति उतावली बन जाती है। कार्य आरंभ हुए देर नहीं होती कि यह देखने लगते हैं कि सफलता में अभी कितनी देर है? जरा भी प्रतीक्षा उन्हें सहन नहीं होती। जब उन्हें थोड़े ही समय में रंगीन कल्पनाएँ पूरी होती नहीं दीखतीं, तो निराश होकर उसे छोड़ बैठते हैं। अनेक कार्यों को आरंभ करना और उन्हें बिगाड़ना ऐसी ही बाल क्रीड़ाएँ वे जीवन भर करते रहते हैं। छोटे बच्चे अपनी आकांक्षा और इच्छापूर्ति के बीच में किसी कठिनाई, दूरी या देरी की कल्पना नहीं कर पाते, इन बाल-क्रीड़ा करने वाले अधीर पुरुषों की भी मनोभूमि ऐसी ही होती है। यदि हथेली पर सरसों न जमी तो खेल बिगाड़ते हुए उन्हें कुछ देर नहीं लगती।

प्राचीन समय में जब शिष्य विद्याध्ययन के लिए जब गुरु के पास जाता था, तो उसे पहले अपने धैर्य की परीक्षा देनी होती थी। गौएँ चरानी पड़ती थीं, लकड़ियाँ चुननी पड़ती थीं, उपनिषदों में इस प्रकार की अनेक कथाएँ हैं। इंद्र को भी लंबी अवधि तक इसी प्रकार तपस्यापूर्ण प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, जब वह अपने धैर्य की परीक्षा दे चुका, तब उसे आवश्यक विद्या प्राप्त हुई। प्राचीनकाल में विज्ञ पुरुष जानते थे कि धैर्यवान पुरुष ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए धैर्यवान स्वभाव वाले छात्रों को ही विद्याध्ययन कराते थे। क्योंकि उनके पढ़ाने का परिश्रम भी अधिकारी छात्रों द्वारा ही सफल हो सकता था। चंचल चित्त वाले, अधीर स्वभाव के मनुष्य का पढ़ना न पढ़ना बराबर है। अक्षरज्ञान हो जाने या अमुक कक्षा का सर्टीफिकेट ले लेने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रमाण प्रत्यक्ष है। आज लाखों-करोड़ों 'पढ़े-गधे' इधर-से- उधर घूरे के तिनके

चरकर लदते-मरते रहते हैं। कोई कहने लायक पुरुषार्थ उनसे नहीं हो पाता।

आतुरता एवं उतावली का स्वभाव जीवन को असफल बनाने वाला एक भयंकर खतरा है। कर्म का परिपाक होने में समय लगता है। रूई को कपड़े के रूप तक पहुँचने के लिए कई कड़ी मंजिलें पार करनी होती हैं और कठोर व्यवधानों में होकर गुजरना पड़ता है। संक्रांति काल के मध्यवर्ती कार्यक्रम को धैर्यपूर्वक पूरा होने देने की जो प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे रूई को कपड़े के रूप में देखने की आशा न करनी चाहिए। किया हुआ परिश्रम एक विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा फल बनता है। इसमें देर लगती है और कठिनाई भी आती है। कभी-कभी परिस्थितिवश यह देरी और कठिनाई आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है। उसे पार करने के लिए समय और श्रम लगाना पड़ता है। कभी-कभी तो कई बार का प्रयत्न भी सफलता तक नहीं ले पहुँचता, तब अनेक बार अधिक समय तक अविचल धैर्य के साथ जुटे रहकर अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करना होता है। आतुर मनुष्य इतनी दृढ़ता नहीं रखते, जरा-सी कठिनाई या देरी से वे घबरा जाते हैं और मैदान छोड़कर भाग निकलते हैं। यही भगोड़ापन उनकी पराजयों का इतिहास बनता जाता है।

चित्त का एक काम पर न जमना, संशय और संकल्प-विकल्पों में पड़े रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। यदि काम पूरा न हो पाया तो—यदि कोई आकस्मिक आपत्ति आ गई तो—यदि फल उलटा निकला तो—इस प्रकार की दुविधापूर्ण आशंकाएँ मन को डाँवाडोल बनाए रहती हैं। पूरा आकर्षण और विश्वास न रहने के कारण मन उचटा-उचटा -सा रहता है। जो काम हाथ में लिया हुआ है, उस पर निष्ठा नहीं होती। इसलिए आधे मन से वह किया जाता

है। आधा मन दूसरे नए काम की खोज में लगा रहता है। इस डाँवाडोल स्थिति में एक भी काम पूरा नहीं हो पाता। हाथ के काम में सफलता नहीं मिलती बल्कि उलटी भूल-पर-भूल होती जाती हैं, ठोकर-पर-ठोकर लगती जाती हैं। दूसरी ओर आधे मन से जो नया काम तलाश किया जाता है, उसके हानि-लाभों को भी पूरी तरह नहीं बिचारा जा सकता। अधूरी कल्पना के आधार पर नया काम वास्तविक रूप में नहीं, वरन अलंकारिक रूप में दिखाई पड़ता है। पहले काम को छोड़कर नया पकड़ लेने पर फिर उस नए काम की भी वही स्थिति होती है, जो पुराने की थी। कुछ समय बाद उसे भी छोड़कर नया ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार 'काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़ना' इस कार्यक्रम की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती है और अंत में मनुष्य अपने असफल जीवन पर पश्चात्ताप करता हुआ इस दुनिया से कूँच कर जाता है।

भूतकाल की बीती हुई दुखदाई घटनाओं का स्मरण कर-कर के कितने ही मनुष्य अपने आप को बेचैन बनाए रहते हैं। किसी प्रियजन की मृत्यु, पैसे की हानि, अपमान, विछोह आदि की कटु स्मृतियों को वे भुला नहीं पाते और सदा कुढ़ते एवं जलते रहते हैं। इसी प्रकार कितने ही मनुष्य भविष्य की कठिनाइयों को हल करने की चिंता में जला करते हैं। लड़की के विवाह के लिए इतना रुपया कहाँ से आएगा? बुढ़ापे में क्या खाएँगे? लड़के कुपात्र निकले, तो प्रतिष्ठा कैसे कायम रहेगी? गरीबी आ गई तो कैसे बीतेगी? इतना धन इकट्ठा न हो पाया तो अमुक कार्य कैसे पूरा होगा? अमुक ने सहारा न दिया तो कैसी दुर्दशा होगी? अमुक आपत्ति आ गई तो भविष्य अंधकारमय हो जाएगा आदि अनेक प्रकार के भावी संकटों की चिंता में रक्त, मांस को सुखाते रहते हैं। भूत का शोक और भविष्य का भय इतना त्रासदायक होता है कि मस्तिष्क का अधिकांश

भाग उसी में उलझा रहता है। वर्तमान समय की गुत्थियों को सुलझाने और सामने पड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिए शक्तियों का बहुत थोड़ा भाग बचता है। उस बचे-खुचे, आंशिक मनोबल से जो थोड़ा-सा काम हो पाता है, उतने मात्र से व्यवस्था क्रम यथावत् नहीं चल सकता। फलस्वरूप गति अवरोध उत्पन्न होकर जीवन की बधिया बैठ जाती है। इस उलझन भरी दशा में किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कितने ही मनुष्य आत्महत्या कर लेते हैं, पागल हो जाते हैं, घरबार छोड़कर भाग जाते हैं या और दु:खदायी कार्य कर बैठते हैं। कितने ही घोर निराशावादी या सनकी हो जाते हैं, कितने ही कुसंग के भार से कुछ देर के लिए सलाह पाने का, अपने आप को भूलने का, नशेबाजी का सत्यानाशी प्रयत्न करते हैं।

आवेशों से मानसिक तंतुओं को सदा उत्तेजित रखना, अपने आप को जलती मशाल से झुलसाते रहने के समान है। आवेश जीवन की अस्वाभाविक दशा है। उसमें शक्तियों का भयंकर रूप से नाश होता है। डॉक्टरों ने पता लगाया है कि यदि मनुष्य ४.५ घंटे लगातार क्रोध में भरा रहे, तो लगभग ८ औंस खून जल जाएगा और इतना विष उत्पन्न हो जाएगा, जितना कि १ तोला कुचला से उत्पन्न होता है। चिंता की अधिकता से हड्डियों के भीतर रहने वाली मज्जा सूख जाती है, फलस्वरूप निमोनिया, इन्फ्लूऐंजा सरीखे रोगों के आक्रमण का अंदेशा बढ़ जाता है। ऐसे लोगों की हड्डियाँ टेढ़ी पड़ जाती हैं और नियत स्थान से ऊपर आ जाती हैं। कनपटी की, गले की, कंधे की, कान के पीछे की हड्डियाँ यदि ऊपर उभर आईं तो कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति चिंता में घुला जा रहा है। लोभी और कंजूसों को कब्ज की शिकायत बनी रहती है और आएदिन जुकाम बना रहता है। भय और आशंका से जिनका कलेजा काँपता रहता है, उनके शरीर में लौह और क्षार

की मात्रा कम हो जाती है। बाल झड़ने लगते हैं और सफेद होने लगते हैं। शोक के कारण नेत्रों की ज्योति-क्षीणता, गठिया, स्मरण शक्ति की कमी, स्नायविक दुर्बलता, बहुमूत्र, पथरी सरीखे रोग हो जाते हैं। ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिहिंसा की जलन के कारण तपैदिक, दमा, बहरापन, कुष्ठ सरीखी ब्याधियाँ उत्पन्न होती देखी जाती हैं। कारण स्पष्ट है कि इन मानसिक आवेशों के कारण एक प्रकार का अंतर्दाह उत्पन्न होता है। अग्नि जहाँ रहती है, वहाँ जलाती है। अंतर्दाह की अग्नि में जीवन के उपयोगी तत्त्व ईंधन की भाँति जलते रहते हैं, जिससे देह भीतर-ही-भीतर खोखली हो जाती है। जहाँ अग्नि जलती है, वहाँ ऑक्सीजन (प्राणवायु) खरच होती है और कार्बन गैस (विष-वायु) उत्पन्न होती है। अंतर्दाह की प्रक्रिया से भी अनेक प्रकार के विष उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण शरीर तरह-तरह के रोगों का घर बन जाता है और कुछ ही समय में इतना सड़-गल जाता है कि जीवात्मा को असमय में ही उसे छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ता है।

आवेशों का तूफान न शारीरिक स्वास्थ्य को कायम रहने देता है और न मानसिक स्वास्थ्य को। वैद्य को नाड़ी पकड़ने से कोई रोग भले ही न मालूम पड़े, पर वस्तुतः आवेश की अवस्था में जीवन की उतनी ही क्षति होती रहती है, जितनी कि बड़े-बड़े भयंकर रोगों के समय होती है। यह सर्वविदित है कि रोगी मनुष्य न तो शारीरिक श्रम कर सकता है और न मानसिक। आवेश का रोगी शारीरिक दृष्टि से एक प्रकार का अपाहिज बन जाता है। चाहता है कि काम करूँ, पर होता कुछ नहीं। जरा देर काम करने पर थककर चूर हो जाता है, मन वहाँ जमता ही नहीं, काम को छोड़कर लेट जाने या कहीं चले जाने की तबीअत करती है। करता कुछ है किंतु हो कुछ जाता है। जरा देर के काम में काफी समय खरच हो जाता है सो भी ठीक तरह होता

नहीं। जब निरीक्षण किया जाता है, तो भूल-पर-भूल निकलती हैं। इस तरह अंड-बंड काम करने वाला एक प्रकार से अपाहिज ही है, क्योंकि उसके किए काम से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; जितना काम होता है, उससे अधिक हानि हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाहर से स्वस्थ दीखते हुए भी वह वस्तुतः शैय्या-सेवी रोगी जैसी अवस्था में ही गिना जा सकता है। मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी यही दशा होती है। आवेश में भरा हुआ मनुष्य आधा पागल बन जाता है, जिनके कहने और सुनने से विचारवान लज्जा के मारे जमीन में गड़-सा जाता है। ऐसी-ऐसी ऊट-पटांग बातें सोचता है, जिनका कहीं सिर-पैर नहीं, ऐसे-ऐसे काम कर डालता है, जिन्हें पागल के अतिरिक्त कोई भला चंगा आदमी नहीं कर सकता। कभी सर्प की तरह फुसकारता है, कभी व्याघ्र की तरह मुँह फाड़कर खाने को दौड़ता है, कभी ऐसा दीन और कातर हो जाता है कि कातर रोने, विलाप करने, विरक्त बनने, आत्महत्या करने के अतिरिक्त और कुछ समझ ही नहीं पड़ता। मेरे इस आचरण का भविष्य में क्या परिणाम होगा? यह सोचने में उसकी बुद्धि बिलकुल असमर्थ हो जाती है। इस प्रकार के आवेशग्रस्त उन्मत्त दशा वाले मनुष्य को पागलपन का डाक्टरी सर्टीफिकेट भले ही प्राप्त न हो सके, पर वस्तुतः उसकी दशा अर्द्ध विक्षिप्त से जरा भी अच्छी नहीं होती। ऐसे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बीमार मनुष्य अपने जीवन को किसी प्रकार भार रूप में काट तो सकते हैं, पर उनके लिए यह संभव नहीं कि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकें, महापुरुष बन सकें अथवा समृद्धि-समुन्नत अवस्था प्राप्त कर सकें।

जीवन को समुन्नत दिशा की ओर ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि विवेक-बुद्धि ठीक प्रकार काम करे। विवेक-बुद्धि की स्थिरता के लिए निराकुलता आवश्यक है। दर्पण या

पानी में प्रतिबिंब तभी दिखाई पड़ सकता है, जब वह स्थिर हो। यदि दर्पण या पानी हिल रहा हो, तो उसमें प्रतिबिंब भी ठहर न सकेगा। मस्तिष्क में जब उफान आ रहे हों, तो विवेक स्थिर नहीं रह सकता। ठीक पथ-प्रदर्शन कराने वाली बुद्धि तभी उद्भूत होगी, जब मन शांत हो, स्थिर हो, निराकुल हो। किसी काम की अच्छाई-बुराई, हानि-लाभ, सुविधा, कठिनाई आदि की ठीक-ठीक कल्पना करने और अनेक दृष्टियों से विचार करके किसी अंतिम निर्णय पर पहुँचने की क्षमता रखने वाला विवेक तभी मस्तिष्क में रह सकता है, जब आवेशों की उद्विग्नता न हो। जो कार्य भली प्रकार आगा-पीछा सोचकर आरंभ किए जाते हैं, वे ही पार पड़ते हैं। जोश और उतावली में बिना विचारे जिन कार्यों को आरंभ किया जाता है, प्रायः उन्हें बीच में ही छोड़ने को विवश होना पड़ता है।

अध्यात्मविद्या के प्रायः सभी ग्रंथों में मन को रोकने, चित्त वृत्तियों को एकाग्र करने, मन को वश में करने का पग-पग पर आदेश किया है। अनेक साधनाएँ मन को वश में करने की बताई गईं हैं। यह मन को वश में करना और कुछ नहीं, निराकुलता ही है। दुःख-सुख, हानि-लाभ, जय-अजय के कारण उत्पन्न होने वाले आवेशों से बचना ही योग की सफलता है। गीता कहती है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २-१५॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥ २-३८॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थित धीर्मुनिरुच्यते॥ २-५६॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ ५-२०॥

आदि अनेक स्थलों पर निराकुलता को वेग की सफलता बताया गया है। आवेश सुखप्रधान और दु:खप्रधान दोनों प्रकार के हैं। शोक, हानि, विछोह, रोग, दंड, भय, विपत्ति, मृत्यु, क्रोध, अपमान, कायरता आदि हानि प्रधान आवेश हैं। कुछ आवेश लाभ प्रधान भी होते हैं—लाभ, संपत्ति, मिलन, कुटुंब, बल, सत्ता, पद, धन, मैत्री, विद्या, बुद्धि, कुल, कला, विशेषता आदि के कारण एक प्रकार का नशा चढ़ आता है। इस प्रकार की कोई संपत्ति जब बड़ी मात्रा में एकाएक मिल जाती है, तब तो मनुष्य हर्षोन्मत्त हो जाता है। उसकी दशा अर्द्ध विक्षिप्त जैसी हो जाती है। सुख के मारे लोग फूले नहीं समाते व कस्तूरी के हिरन की तरह इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं, चित्त बल्लियों उछलने लगता है। जब कोई संपत्ति स्थायी रूप से प्राप्त हो जाती है तो उसका अहंकार चढ़ आता है, उसे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो मैं साधारण मनुष्यों की अपेक्षा सैकड़ों गुना भारी हूँ। वैभव के मद में वह इतराता है, दूसरों का अपमान करके अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता है, मुँह लटकाकर, भौंह चढ़ाकर, उपेक्षा भाव से बात करता है, बार-बार अपने मुँह अपनी प्रशंसा करता है, दूसरों के मुँह यदि अपनी प्रशंसा न सुनी जाए, तो वह चिढ़ जाता है, खुशामदी और चापलूसों के अतिरिक्त किसी से उसकी नहीं पटती।

संबंधित व्यक्तियों पर, नौकरों पर, घर वालों पर, यहाँ तक कि कभी-कभी अपने पर भी रोब जमाता है, अहंकार का मद, वैभव का घमंड, एक बोतल के नशे की तरह चढ़ा रहता है। अपने बड़प्पन की रक्षा के लिए भारी फजूलखरची का बोझ अपनी पूँछ से बाँधे फिरता है। अमीर, उमराव, राजा, रईस, महंत, मठाधीश, अफसर, अहलकार, सिद्ध, कलाकार कहे जाने वाले लोगों में इस प्रकार के अहंकारी नशे में चूर व्यक्ति अधिक मात्रा

में मिल सकते हैं। गरदन फुलाए, मुँह लटकाए, भौंहें चढ़ाए, अकड़-अकड़कर उपेक्षा और अपमानपूर्ण ढंग से बात करने के स्वभाव को देखकर, यह आसानी से पहचाना जा सकता है कि यहाँ अहंकार का नशा चढ़ा हुआ है।

ऐसे अहंकार के नशे में मदहोश बड़े हुए लोगों को अपनी प्रेस्टेज, पोजीशन, मान, बड़ाई, बड़प्पन, खातिर की बड़ी चिंता रहती है। इसके लिए हर काम में बहुत अधिक फजूलखरची करनी पड़ती हैं। उस फजूलखरची की सामग्री को जुटाने के लिए अनुचित साधन जुटाने पड़ते हैं, अनेक प्रकार की बुराई ओढ़नी पड़ती है। इस प्रकार एक तो अहंकार के नशे की जलन, दूसरे उस नशे को बनाए रहने के साधनों की चिंता—दोनों प्रकार की आकुलताएँ मन में कोहराम मचाए रहती हैं और दुःखप्रधान आवेशों से अंतःकरण में जैसी अशांति रहती है, वैसी ही सुखप्रधान आवेशों में भी उत्पन्न हो जाती है। इन दोनों से ही बचना आवश्यक है। शराब का नशा और अफीम का नशा आपस में अलग-अलग प्रकार के अवश्य हैं, परंतु मस्तिष्क को बिगाड़ने में दोनों में से कोई किसी से पीछे नहीं रहता। यही बात सुखप्रधान और दुःखप्रधान आवेशों के बारे में है। दोनों से ही स्वास्थ्य एवं विवेक की क्षति होती है। गीता आदि शास्त्रों में इसीलिए ही दोनों प्रकार के आवेश-द्वंद्वों से दूर रहने का जोरों से प्रतिपादन किया गया है।

जीवन को समुन्नत देखने की इच्छा करने वालों के लिए यह आवश्यक है कि अपने स्वभाव को गंभीर बनाएँ। उथलेपन, लड़कपन, छछोरपन की जिन्हें आदत पड़ जाती है, वे गहराई के साथ किसी विषय में विचार नहीं कर सकते। किसी समय मन को गुदगुदाने के लिए बाल-क्रीड़ा की जा सकती है, पर वैसा स्वभाव न बना लेना चाहिए। आवेशों से बचे रहने की आदत बनानी चाहिए। जैसे समुद्र

तट पर रहने वाले पर्वत नित्य टकराते रहने वाली समुद्र की लहरों की परवाह नहीं करते, इसी प्रकार अपने को भी उद्वेगों की उपेक्षा करनी चाहिए। खिलाड़ी खेलते हैं, कई बार हारते हैं, कई बार जीतते हैं। कई बार हारते-हारते जीत जाते हैं, कई बार जीतते-जीतते हार जाते हैं। कभी-कभी बहुत देर हार-जीत के झूले में यों ही झूलते रहते हैं, परंतु कोई खिलाड़ी उसका अत्यधिक असर मन पर नहीं पड़ने देता। हारने पर कोई सिर धुनकर क्रंदन नहीं करता और जीतने पर न कोई अपने को बादशाह मान लेता है। हारने वालों के होठों पर झेंप भरी मुस्कराहट होती है और जीतने वाले होठों पर जो मुस्कराहट रहती है, उसमें सफलता की प्रसन्नता मिली होती है। इस थोड़े-से स्वाभाविक भेद के अतिरिक्त और कोई विशेष अंतर जीते हुए तथा हारे हुए खिलाड़ी में नहीं दिखाई पड़ता है। विश्व के रंगमंच पर हम सब खिलाड़ी हैं। खेलने में रस है, पर रस दोनों दलों को समान रूप से मिलता है। हार-जीत तो उस रस की तुलना में नगण्य चीज है।

"फल की इच्छा त्यागकर कर्म करो" गीता के कर्मयोग का यही मूलमंत्र है। इसका भावार्थ यह है कि अपने काम करने की कार्य प्रणाली में आनंद अनुभव करो। फल मिलने की प्रतीक्षा तक आनंद की प्रतीक्षा करना बुद्धिमानी नहीं है। अभीष्ट फल मिलने में देर हो सकती है। कई बार बड़े-बड़े विघ्न बीच में आ सकते हैं, कभी-कभी उलटा परिणाम भी निकल सकता है। कर्म करना अपने हाथ है, फल मिलना दैवाधीन है। इसलिए कर्म में ही रस अनुभव करना चाहिए, जैसा कि खिलाड़ी लोग खेलने के समस्त क्षणों में प्रसन्नता अनुभव करते रहते हैं। जब संपत्ति मिले, वैभव प्राप्त हो, तब घमंड के नशे में इतराना नहीं चाहिए। जब विपत्ति का सामना करना पड़े, तो सिर न धुनना चाहिए। धैर्यवान पुरुषों का सिद्धांत

कहता है कि "जब जैसी (संपत्ति या विपत्ति) आ पड़े, तब तैसी करेंगे।" विपत्ति में से छुटकारा पाने और संपत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न निरंतर जारी रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना पुरुषोचित कर्त्तव्य है। अधीरता कायरता है और कायरता एक सच्चे पुरुष के लिए सबसे बड़ी लज्जा की बात है।

जिस सुख को प्राप्त करने के लिए लोग अधीर रहते हैं, जिस सुख के अभाव में लोग अपना सिर धुनते हैं और न करने योग्य कार्य कर बैठते हैं, उस सुख को दुःख-निवारण और सुखप्राप्ति के प्रयत्न में भी प्राप्त किया जा सकता है। कर्त्तव्य का पालन, उचित दिशा में काम, लक्ष्य की ओर पूरा प्रयत्न, ईमानदारी, निष्ठा और एकाग्रता का समन्वय, इन सब बातों में पूरा-पूरा आनंद भरा हुआ है। जब अपने हाथ में अमृत का घट मौजूद है, तो प्यास-प्यास रटकर तालू को क्यों सुखाया जाए? जब कस्तूरी अपने पास मौजूद है, तो सुगंध के लिए इधर-उधर क्यों भटका जाए? जब कर्त्तव्यपालन के साथ-साथ हर घड़ी प्रसन्नता अनुभव की जा सकती है, तो "जब फल मिले, तब आनंद अनुभव करें" इतनी बड़ी एवं अनिश्चित प्रतीक्षा के लिए अपने आप को क्यों बाँध रखा जाए?

सुनहरे भविष्य की आशा करनी चाहिए, अधिक उत्तम स्थिति को प्राप्त करने की आकांक्षा करनी चाहिए, उन्नति के लिए जी तोड़ प्रयत्न करना चाहिए। ये सब करते हुए भी अति लोभ से आतुर होकर हथेली पर सरसों जमने की उद्विग्नता न करनी चाहिए। मन में इतना धैर्य होना चाहिए कि प्रलय तक का समय लगे तो भी प्रयत्न उसी उत्साह से जारी रखेंगे। दृढ़ता इतनी होनी चाहिए कि वज्र जैसे विघ्न भी आएँ तो भी उन्हें पार करेंगे। इसी प्रकार जब मृत्यु, शोक, हानि, रोग, कलह अन्य किसी प्रकार के संकट आएँ

तो उनके निवारण करने के उपाय सोचने और कार्य करने में शक्ति को लगाना चाहिए। यदि कष्ट में पड़ना पड़े, तो उसे हँसते हुए सहकर अपनी धीरता का परिचय देना चाहिए। इंद्रिय भोगों को प्राप्त करने की आतुरता भी कभी-कभी बेचैन बना देती है, उस पर भी नियंत्रण करने की आवश्यकता है। स्वादेंद्रिय को जीतना चाहिए, व्रत-उपवास द्वारा स्वाद रहित भोजन करने की आदत डालकर चटोरपन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। सिनेमा, नाटक, नाच-रंग जैसे हानिकर मनोरंजनों से हठपूर्वक मन को रोकना चाहिए। काम-वासना की सीमा मर्यादित रखनी चाहिए। यदि मन असमय चंचल हो तो उसका दमन करना चाहिए। स्वादेंद्रिय और कामेंद्रिय से छोटे-छोटे युद्ध समय-समय पर बार-बार ठानते रहना चाहिए। जैसे किसी दिन निश्चय किया कि आज शाम तक मिठाई नहीं खाएँगे, उस दिन उस प्रतिज्ञा को पूरी तरह निभा ही देना चाहिए। किसी दिन नमक न खाने का, किसी दिन दूध न पीने का, किसी दिन उपवास का, किसी दिन कुछ समय मौन रहने का निश्चय करना चाहिए और उसे पूरा ही कर लेना चाहिए। जिस दिन जो इच्छा प्रबल हो, उस दिन उसका जरूर दमन करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करने से कुछ दिन में आत्मनिग्रह की शक्ति बढ़ जाती है और इंद्रियाँ वश में आ जाती हैं। इंद्रियों को उनके भोग देने आवश्यक हैं, पर वह उन्हें विवेकपूर्वक, चिकित्सक बुद्धि से देने चाहिए। रोगी जो माँगता है, वह उसे नहीं खिलाया जाता, परंतु यदि डाक्टर रोगी की रुचि के विपरीत कड़वी ओषधि दे तो भी उसे वह खानी पड़ती है। यहाँ दृष्टिकोण इंद्रिय भोगों के संबंध में होना चाहिए। इंद्रियों की स्थिति रोगों की है, उनकी इच्छा केवल रसास्वादन के आधार पर होती है, हानि-लाभ की दूरदर्शिता का विचार उनमें

नहीं होता। रसास्वादन के चटोरपन में मर्यादा का अतिक्रमण होता है, जिससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भयंकर हानि होती है। उसके अतिरिक्त जब इंद्रियाँ बहुत प्रबल हो जाती हैं, विवेक उन्हें परास्त नहीं कर सकता, तब वे जब चाहें तब मन में भयंकर हलचल मचा देती हैं और शांति के स्थान पर चंचलता का साम्राज्य स्थापित कर देती हैं। ऐसी स्थिति सर्वथा अवांछनीय है। स्थिरता को नष्ट करने वाली है। इसलिए इंद्रियजन्य मनोवेगों को रोकने, लड़ने, प्रतिबंध लगाने एवं परास्त करने के लिए नित्य कोई-न-कोई छोटे-बड़े अवसर तलाश करते रहने चाहिए। कुछ दिनों के प्रयत्न से वासना शक्ति निर्बल हो जाती है, उसमें वह प्रबलता नहीं रहती कि जब चाहे तब मानसिक शांति को नष्ट करें।

निराकुलता में अनंत शांति भरी हुई है। योगीजन विचारों को हटाकर चित्त को शून्य बनाने का अभ्यास किया करते हैं, यह निराकुलता का अभ्यास है। कैवल्य, निर्विकल्प, समाधि क्या है? निराकुलता की सर्वोच्च सफलता है। इस मार्ग में जो जितना आगे बढ़ जाता है, उसे उतना ही आनंद आता है, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ जाती है, विवेकबुद्धि में उतनी ही स्वच्छता आ जाती है। केवल योगियों के लिए ही नहीं, हर व्यक्ति के लिए निराकुलता की आवश्यकता है। इस निराकुल अवस्था को प्राप्त करना संसार की सबसे बड़ी सफलता है क्योंकि इसी से आत्मतेज उदय होता है। यही ब्रह्मविद्या का रहस्य है।

□

वैराग्य की विवेचना

वैराग्य का अर्थ है—रागों को त्याग देना। राग मनोविकारों को, दुर्भावों और कुसंस्कारों को कहते हैं। अनावश्यक मोद, ममता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, शोक, चिंता, तृष्णा, भय, कुढ़न आदि के कारण मनुष्य जीवन में बड़ी अशांति एवं उद्विग्नता रहती है। कितने ही लोग अपने को बड़ा दीन, दुखी, अभावग्रस्त, संतप्त, अभागा समझते हैं और यह रोना रोते हैं कि हमारे पास अमुक वस्तु नहीं, अमुक स्थिति अनुकूल नहीं, अमुक त्रास है, परंतु असली बात दूसरी होती है। अंत:करण में रहने वाले राग-द्वेष भीतर से उठते हैं और मन में घुमड़ाते हैं, उन्हीं की विषैली गरमी से मनुष्य संतप्त रहता है।

तत्त्वदर्शी सुकरात का कथन है कि "संसार में जितने दु:ख हैं, उनमें तीन-चौथाई काल्पनिक हैं।" मनुष्य अपनी कल्पना शक्ति के सहारे उन्हें अपने लिए गढ़कर तैयार करता है और उन्हीं से डर-डर कर खुद दुखी होता रहता है। यदि वह चाहे तो अपनी कल्पना शक्ति को परिमार्जित करके, अपने दृष्टिकोण को शुद्ध करके, इन काल्पनिक दु:खों के जंजाल से आसानी से छुटकारा पा सकता है। अध्यात्म शास्त्र में इसी बात को सूत्र रूप में इस प्रकार कह दिया है कि "वैराग्य से दु:खों की निवृत्ति होती है।" हम मनचाहे भोग नहीं भोग सकते। धन की, संतान की, अधिक जीवन की, भोग की एवं मनमानी परिस्थिति प्राप्त होने की, तृष्णा किसी भी प्रकार पूरी नहीं हो सकती, एक इच्छा पूरी होने पर दूसरी नई दस इच्छाएँ उठ खड़ी होती हैं। उनका कोई अंत नहीं, कोई सीमा नहीं। इस अतृप्ति से बचने का सीधा-सादा उपाय अपनी इच्छाओं एवं

भावनाओं को नियंत्रित करना है। इस नियंत्रण द्वारा, वैराग्य द्वारा ही दुःखों से छुटकारा मिलता है। दुःखों से छुटकारे का वैराग्य ही एकमात्र उपाय है।

वैराग्य हिंदू धर्म की शिक्षाओं में आदि से अंत तक ओत-प्रोत है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत हर मनुष्य को वैरागी रहने का आदेश है, क्योंकि वैरागी मनुष्य ही अपने मानसिक संतुलन को ठीक रख सकता है, जीवन के सच्चे आनंद का उपभोग कर सकता है। उन्नत, समृद्धि, यशस्वी, प्रतापी एवं पारलौकिक संपन्नता के लिए भी वैराग्य की प्राथमिक आवश्यकता है। एक शब्द में यों कह सकते हैं— "जीवन को सुसंपन्न बनाने का एकमात्र आधार वैराग्य है।" गीता का कर्मयोग, वैराग्य का ही दूसरा नाम है।

हर स्थिति के व्यक्ति को सदैव अपना दृष्टिकोण वैराग्यमय रखना चाहिए, यह भारतीय दर्शनशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धांत है। इस सिद्धांत की चर्चा प्राचीन ग्रंथों में हमें सविस्तार मिलती है, पर कितने दुःख की बात है कि आज वैराग्य के अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है। उसका तात्पर्य कुछ-से-कुछ निकाला जाने लगा है। आज हमें वैरागी कहलाने वालों की एक भारी जनसंख्या निरुद्देश्य बेकारी में समय काटती हुई, मुफ्त की रोटियाँ खाती हुई, इधर से उधर मारी-मारी फिरती दीखती है। आज के वैराग्य का अर्थ यह समझा जाता है कि घर छोड़कर चल देना, कुटुंब के महान उत्तरदायित्व को तिनके के समान तोड़कर फेंक देना, संसार को मिथ्या बताना, फिर भी संसार के अन्न, वस्त्र, मकान, धन आदि का उपभोग करना, लोकसेवा से सर्वथा दूर रहकर अपनी निजी मुक्ति या स्वर्ग प्राप्ति की खुदगर्जी की बातें सोचते रहना। भांग, चरस, गाँजा, तंबाकू आदि नशीले पदार्थों की भरमार रखना, पात्र-कुपात्र का विचार न करके दीनतापूर्वक भीख माँगना,

भाग्यवादी अकर्मण्यता का उपदेश करना, विचित्र प्रकार का वेश बना लेना आदि।

आज के वैरागियों ने वैराग की दुर्दशा कर रखी है। आइए! उस पर विचार करें और यह देखें कि उनकी कार्यपद्धति ठीक है या नहीं? छोटे-छोटे बाल-बच्चों को अनाथ बनाकर, तरुण पत्नी, वृद्ध माता-पिता को छोड़कर कई लोग घर से भाग खड़े होते हैं, यह 'कर्म परित्याग' किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। प्राचीन समय में ऐसे उदाहरण हमें देखने को नहीं मिलते। साधारण जनता अपना साधारण गृहस्थ जीवन बिताते हुए ही वैराग्य का दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करती थी, पर जो विशेष रूप से वैराग्य साधन का कार्यक्रम बनाते थे, वे भी कुटुंब को त्यागते न थे। योगेश्वर भगवान शंकर ने दो बार विवाह किया, उनकी पहली पत्नी सती और दूसरी पार्वती थीं। गणेश और स्वामी कार्तिकेय उनके दो पुत्र थे। गीता के प्रवक्ता योगीराज श्रीकृष्ण की कई स्त्रियाँ और कई संतानें थीं। शुकदेव जी को ब्रह्मविद्या सिखाने वाले राजा जनक की एक सौ पत्नियाँ थीं। याज्ञवल्क्य ऋषि की कात्यायनी और मैत्रेयी दो स्त्रियाँ थीं। गौतम ऋषि की अहिल्या पत्नी थी। जमदग्नि की रेणुका और परशुराम पुत्र थे। च्यवन ऋषि की सुकन्या पत्नी थी। अत्रि ऋषि की स्त्री अनुसूया थी, जिन्होंने सीता जी को पतिव्रत धर्म का उपदेश किया। व्यास जी की पत्नी मत्सोदरी ने शुकदेव जी को जन्म दिया। वसिष्ठ के शत पुत्रों को विश्वामित्र जी ने मार डाला। लोमश ऋषि के पुत्र श्रृंगी ऋषि ने परीक्षित को शाप दिया। दुर्वासा ऋषि की शकुंतला कन्या थी। पुलस्त्य ऋषि का पुत्र रावण हुआ। उद्दालक ऋषि के पुत्र नचिकेता थे। उद्दालक, वाजिश्रवा के पुत्र थे। द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा था। छांदोग्योपनिषद् में उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव के पुत्र इंद्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन

और अश्वतराश्चिका के पुत्र वुडिल—इन पाँचों को महाशाल अर्थात वेद पढ़ाने वाले महा अध्यापक लिखा है, वे पाँचों ऋषिकुमार थे। अरुण के पुत्र आरुणि, उद्दालक के श्वेतकेतु पुत्र थे। इन सबकी माताओं के नाम अविदित हैं तो भी उनकी माताएँ रही अवश्य होंगी। इस प्रकार उन ऋषियों का सपत्नीक होना निश्चित है। यह आम प्रथा थी। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए ऋषि लोग वैराग्यमय जीवन बिताते थे। इसमें न तो कोई दोष है और न कोई दोष समझा गया है। आज का वैराग्य तो विचित्र वैराग्य है। उसमें उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य कर्मों का त्याग ही, त्याग समझा जाने लगा है।

आज के वैरागी दुनिया को मिथ्या बताते हैं और लोकसेवा से नाक-भौं सिकोड़कर अपने निजी स्वर्गमुक्ति की तरकीबें लड़ाते हैं, पर प्राचीनकाल में यह विचारधारा बहुत बुरी दृष्टि से देखी जाती थी। यह तो एक विशुद्ध खुदगर्जी है। व्यापारी लोग अपने निजी लाभ के लिए धन कमाते हैं—ऐसी दशा में उनके लिए भिक्षा माँगने का कोई अधिकार नहीं और न वे माँगते ही हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने निजी स्वर्ग या मुक्ति की साधना में लगे हुए हैं, उन्हें दूसरों से भिक्षा माँगने या दूसरों पर अपना किसी प्रकार का कोई भार डालने का अधिकार नहीं है। प्राचीनकाल में ऋषिगण इस प्रत्यक्ष सत्य को भली भाँति जानते थे और वे अपने जीवन को लोकोपयोगी कार्यों में लगाए रहते थे। जब अपना सारा जीवन जनता-जनार्दन के चरणों में अर्पण कर दिया तो प्रसादस्वरूप दान या भिक्षा के रूप में निर्वाह-साधन लेने का भी उन्हें अधिकार था। आज तो वैरागी कहे जाने वाले लोग लोकसेवा से कोसों दूर भागते हैं और दूध-मलाई उड़ाने के लिए तैयार रहते हैं।

प्राचीनकाल में ऋषिलोग लोकसेवा में तल्लीन रहते थे। धन्वंतरि, अश्विनीकुमार, चरक, सुश्रुत, वागभट्ट, शारंगधर आदि ऋषियों ने

शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य, ओषधि अन्वेषण और चिकित्सा में अपने सारे जीवन लगाए। जनता को रोगमुक्त करके उसे सुखी बनाने के लिए उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। नागार्जुन सरीखे कितने ही वैज्ञानिक रसायन विद्या की शोध करके जनता के लिए उपयोगी ज्ञान सामने लाए। आर्य भट्ट सरीखे ऋषि खगोलविद्या के अन्वेषणों में लगे रहे और ग्रह–नक्षत्रों की गतिविधि की महत्त्वपूर्ण जानकारी जनता के सामने रखी। नालंदा, तक्षशिला जैसे पचासों विश्वविद्यालय उन्हीं के द्वारा चलते थे और संसार में विद्या का प्रकाश किया जाता था। वात्स्यायन जैसे कामशास्त्र के अन्वेषक वैरागी थे। वाणविद्या द्रोणाचार्य सिखाते थे। नारद जी सदा भ्रमण ही करते रहते थे और एक स्थान के समाचारों से दूसरे स्थान की जनता को अवगत कराते थे। विश्वकर्मा ऋषि शिल्पविद्या के आचार्य थे। चाणक्य राजनीति के अनुपम महारथी थे। समय पड़ने पर परशुराम जी ने अत्याचारी शासकों के विरुद्ध स्वयं फरसा उठाया और उन्हें मिटाकर जनता को अभय किया। असुरों के नाश के लिए दधीचि ने अपनी अस्थियाँ तक निकालकर दे दीं। व्यास जी ने अनुपम काव्य पुराण लिखे, सूतजी कथा और उपदेशों द्वारा धर्मप्रचार करते थे। संगीत, साहित्य, व्याकरण, सर्पविद्या, विमानविद्या, शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र, युद्धविद्या, मंत्रविद्या, रसायनविद्या, पशुविद्या आदि अनेकानेक प्रकार के वैज्ञानिक अन्वेषण ऋषियों के आश्रमों में होते थे और यहाँ से बड़ा महत्त्वपूर्ण ज्ञान संसार को मिलता था। वे एकांतसेवी नहीं थे, वरन संसार की गतिविधि पर अपना पूरा नियंत्रण रखते थे। राजाओं के शासन उनकी इच्छानुसार चलते थे। दशरथ के गुरु वसिष्ठ जी असुरों के गुरु शुक्राचार्य, देवताओं के गुरु बृहस्पति जी निमंत्रण जीमकर दक्षिणा लेने वाले गुरु नहीं थे। उनके नियंत्रण में ही राजसत्ता की सारी गतिविधि चलती थी।

आज के तथाकथित वैरागी 'दुनिया से हमें क्या मतलब' की रट लगाते हैं, पर प्राचीनकाल के इस दूषित, ओछे, संकीर्ण दृष्टिकोण को कोई सच्चा वैरागी पास भी नहीं फटकने देता था। भगवान बुद्ध कहा करते थे—"मैं तब तक स्वर्ग या मुक्ति नहीं चाहता, जब तक कि संसार का एक भी प्राणी बंधन में है।" कहाँ वह बोधितत्त्वमयी ऋषियोचित भावनाएँ? कहाँ आज के वैरागियों का खुदगर्ज दृष्टिकोण? दोनों में जमीन-आसमान का अंतर है। आज देश और जाति की जो दुर्दशा है, उसे देखकर सच्चे संत का हृदय पानी की तरह पिघल पड़ता है। प्रतिवर्ष लाखों गौओं के सिर धड़ से अलग हो जाते हैं। असंख्यों स्त्री, बच्चे उदर की ज्वाला शांत करने के लिए विधर्मी बन जाते हैं। बीमारी, गरीबी, विदेशी शासन की रक्तशोषक दासता, अविद्या, सांप्रदायिक कलह आदि के कारण भारत माता जर्जर हो रही है। जिसके हृदय में संतपन का एक कण भी मौजूद है, वह चुप नहीं बैठ सकता। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार पीड़ित जनता की सेवा के लिए कुछ-न-कुछ किए बिना उससे रहा ही नहीं जा सकता। ५६ लाख वैरागी जिस काम को भी हाथ में ले लें, उसे बात-की-बात में पूरा कर सकते हैं, पर करें तब न जब संतपन या वैराग की सचाई उनके पास हो।

वेश की नकल करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। सिंह की खाल ओढ़कर गधासिंह नहीं बन सकता। जिस वेश की नकल करके आज वैरागी कहलाते हैं, वह प्राचीन समय में सर्वसाधारण का गृहस्थों का वेश था। प्राचीन समय के महापुरुषों के या देवताओं की तसवीरें या मूर्तियाँ जो आजकल प्राप्त होती हैं, उनमें हम देखते हैं कि वे प्रायः नंगे बदन रहते थे, धोती और बहुत हुआ तो कंधे पर दुपट्टा, यही भारतीय पहनावा था। सिर पर सब कोई लंबे बाल रखते थे। आबादी कम थी, जंगल अधिक थे। छोटे-छोटे गाँवों में

झोंपड़ी बनाकर वनवास करना पड़ता था। लकड़ी की खड़ाऊँ आसानी से बना खरच और कठिनाई के बन जाती थीं। वस्त्रों के अभाव में अपने आप मरे हुए मृग आदि पशुओं का चर्म आसन आदि के काम में ले लिया जाता था। दीयासलाई उस वक्त थी नहीं, जंगली पशुओं को डराने के लिए अग्नि जलती रखी जाती थी। लकड़ियों की कमी थी नहीं। यह धूनी हर घर में सदा ही जलती रहती थी। यह सब रहन-सहन आम जनता का था। संतों और वैरागियों का भी वही रहन-सहन था। आज स्थिति बदल गई है। पुराने रहन-सहन की नकल करना उतना उपयोगी नहीं रहा है, पर आज तो वह नकल वैरागी होने के साइनबोर्ड की तरह काम में लाई जाती है। इस अनुकरण में क्या विवेकशीलता है, इसे वे नकलची ही समझ सकते हैं। जबकि न तो हिंसक पशुओं के आक्रमण का भय है न लकड़ियों की बहुतायत। दीयासलाई से अग्निप्राप्ति की असुविधा भी नहीं रही। ऐसी दशा में धूनी जलाने का क्या प्रयोजन है, इसे वे ही समझ सकते हैं।

विवेकशीलता हमें पुकारती है। प्राची से प्रकाश ही उदय हो रहा है। हमें हर समस्या पर विवेक के आधार पर विचार करना पड़ेगा। वैराग्य जैसे महातत्त्व को हम दैनिक व्यवहार में उपयोग करके जीवन को सच्चे अर्थ में आनंदित बनाना लाभदायक है या वैराग का ऊट-पटाँग आडंबर करना उचित है।

गृह त्याग क्यों?

एक भ्रमपूर्ण ख्याल है कि घर में प्रेम न करना चाहिए, स्त्री-बच्चों के प्रेम में फँस जाने से नरक मिलता है। इस ख्याल के अनुसार कई मनुष्य अपने ऊपर पड़े हुए गृहस्थ-कर्त्तव्य को छोड़कर भाग खड़े होते हैं और ईश्वर भक्ति की रट लगाते हैं। कई नौजवान जो अपनी जिम्मेदारी निभाने में नालायक साबित होते हैं, घरबार से मुँह मोड़कर गेरुआ कपड़ा पहन लेते हैं और इधर-उधर भीख माँगते फिरते हैं। इनके आश्रित परिवार नाना प्रकार के कष्ट पाता हुआ बिलख-बिलखकर उन्हें कोसता है। पति रहित होकर स्त्री को अपमानित, अभावपूर्ण और अशांतिमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। यूरोप जैसे देशों में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देना किसी अंश तक बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि वहाँ स्त्री को दोबारा घर बसा लेने की छुट्टी है, किंतु भारतवर्ष में हिंदू धर्म के अनुसार जहाँ स्त्रियों को इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ उन्हें घुट-घुटकर मरने के लिए विवश करने वाला संन्यासी पति निश्चय ही प्रथम श्रेणी का अविवेकी है। स्वेच्छाचारिणी स्त्री को स्वतंत्र कर देना बात दूसरी है, पर बेचारी अबला का एकमात्र अवलंब तोड़ देना बहुत ही बुरी बात है। इसी प्रकार जिन बालकों के भरण-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा का भार प्रभु ने सौंपा है, उस भार को एक ओर पटककर ईश्वर की रट लगाने के लिए निकल पड़ना कैसी भक्ति है ? यह समझ में नहीं आता। वृद्ध माता-पिता की सेवा, भाइयों की सहायता, स्त्री-पुत्रों का विकास, निकटवर्ती बांधवों की सेवा, ये सब त्यागकर धृष्टतापूर्वक गेरुआ कपड़ा पहनकर भिखारी बनने वाला व्यक्ति उस सेवक का उदाहरण

बनता है, जो अपने स्वामी के सौंपे हुए काम को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर देता है और स्वामी का नाम जपने के लिए माला ले बैठता है। स्वामी किसी भी प्रकार उससे प्रसन्न नहीं हो सकता। भला ऐसे मूढ़ सेवक पर प्रसन्न हो भी कौन सकता है, जो कर्त्तव्य की तो कायरतापूर्वक उपेक्षा करता है और स्वामी को खुश करने की शेखचिल्ली जैसी अन्य युक्तियाँ सोचता है। रात को मालिक के घर की रखवाली के समय दुम दबाकर छिप रहने वाला और दिन में मालिक के सामने दुम हिलाने वाला और पाँव चाटने वाला कुत्ता क्या कभी अपने स्वामी का प्रिय पात्र बन सकता है।

किसी अत्यंत महान कार्य को पूर्ण करने में गृह, कुटुंब, धन तथा प्राणों की बाजी लगा देना एक बात है। विश्वसेवा का उच्चतम कार्य करने का किसी व्यक्ति में साहस हो और उस यज्ञ में आहुति देने के लिए अपनी प्राणप्रिय वस्तुओं को भी समर्पित कर देना दूसरी बात है। वह बहुत ऊँची और सराहनीय स्थिति है, किंतु साधारण जीवन बिताने में घर की अपेक्षा बाहर को महत्त्व देना, ईश्वर प्रेम के नाम पर आश्रित जनों को फाँसी पर टाँगना कायरता, बुजदिली, नपुंसकता और निकम्मेपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। ईश्वर ऐसा क्रूर और निर्दयी नहीं है, जो मनुष्यों को यह आदेश करे कि तुम अपने सांसारिक उत्तरदायित्वों को छोड़कर मेरे सामने नाक रगड़ो।

ज्ञान से परिपूर्ण होकर मानसिक संन्यास ग्रहण करना और अपने जीवन को अधिक-से-अधिक लोगों की सेवा में लगा देना बहुत ही प्रशंसनीय कार्य है। ऐसी उच्चतम दशा जब परिपक्व हो जाए तो पके हुए फल की तरह डाली से टूट पड़ना असंभव है। यही संन्यास की दशा स्वाभाविक है। ऐसा संन्यासी बहुत काल पूर्व से अपनी साधना आरंभ करता है और अपने आश्रितों को मानसिक

और भौतिक दृष्टि से ऐसा स्वावलंबी बना देता है कि घर में रहने या घर छोड़ने में कुछ अंतर नहीं रह जाता। उसे किसी कारणवश परिव्राजक बनना पड़े, तो घर वाले को कष्ट नहीं होता। आवेश में आकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर किसी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होने पर गेरुआ कपड़ा पहनकर भिखारियों की श्रेणी में मिल जाना न तो ईश्वर भक्ति है, न मुक्ति साधना है; न त्याग है और न संन्यास। यह तो एक प्रकार की आत्महत्या ही कही जाएगी।

यह भ्रमपूर्ण विचार है कि घर में प्रेम न करना चाहिए, केवल इस बात का बोधक है कि पारिवारिक ममता में इतना लिप्त न हो जाना चाहिए कि जिससे परमार्थ का ध्यान भी न रहे। मोह और ममता का विस्तार होना घातक है। स्त्री-बच्चों में कभी-कभी इसकी अति आसक्ति देखी जाती है। इस अति पर प्रतिबंध लगाने के लिए ही यह प्राचीन मत उपस्थित किया जाता है। वैराग्य, उदासीनता, निर्लिप्तता का भावार्थ मानसिक निष्काम भाव है। मन में विषयों का चिंतन करता हुआ बाहर से त्याग का आडंबर करने वाला तो गीता के मत से मिथ्याचारी ही कहा जाएगा। राजा जनक इतने बड़े योगी थे कि उनसे बड़े-बड़े ऋषि योगविद्या सीखने आते थे। गृहस्थ रहकर ही संन्यासी बनने का अभ्यास करना चाहिए। निष्काम भाव से कर्त्तव्य धर्म को पालन करते हुए निःस्वार्थ प्रेम की उपासना करनी चाहिए।

कर्त्तव्य भावना से प्रेम प्राप्त करने का हर एक प्राणी अधिकारी है, फिर यह कैसे उचित कहा जा सकता है कि स्त्री-बच्चों के साथ सुस्नेह का परिचय न दिया जाए।

□

अपना स्वभाव उत्तम बनाइए

दार्शनिक इमर्सन कहा करते थे—"यदि मुझे नरक में रहना पड़े तो मैं अपने उत्तम स्वभाव के कारण वहाँ भी स्वर्ग बना लूँगा।" जिसकी मनोभावनाएँ, विचारधाराएँ, मान्यताएँ उच्च कोटि की, सात्त्विक हैं, उसके लिए सर्वत्र स्वर्ग-ही-स्वर्ग है। आनंद, प्रेम, सद्व्यवहार ही उसे चारों ओर उमड़ा पड़ता हुआ दीखता है। उसके लिए इस लोक में या परलोक में कहीं भी नरक नहीं है, किंतु जिसका दृष्टिकोण निकृष्ट है, नीति अच्छी नहीं है, भावनाएँ संकुचित हैं, उसके लिए नरक का दावानल ही चारों ओर जल रहा है। न तो उसे इस लोक में संतोष है और न परलोक में ही रहेगा। नरक उसके हृदय में भरा हुआ है, इसलिए जहाँ-कहीं भी वह जाएगा, छाया की तरह नरक उसके पीछे-पीछे लगा फिरेगा। सब लोग उसे धोखेबाज, दुष्ट, सताने वाले और स्वार्थी ही दिखाई देंगे, मनुष्य भी ऐसे ही और स्वर्ग देवता भी ऐसे ही।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमारा तात्पर्य यह बताने का है कि अपनी विचारधारा और मानसिक अव्यवस्था के ऊपर संसार का प्रिय और अप्रिय होना निर्भर है। इसलिए हम अपने जीवन को जैसा बनाना चाहते हैं, स्वेच्छापूर्वक बना सकते हैं। जिन परिस्थितियों में हम रहना चाहते हैं, जो वस्तुएँ प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें निस्संदेह प्राप्त किया जा सकता है। इस प्राप्ति का सर्वप्रधान उपाय यह है कि अपने आप को अनुकूल बनाएँ, अपने अंदर वह बल, योग्यता और आकर्षण पैदा करें, जिसके द्वारा इच्छित वस्तुओं को प्राप्त किया जा सके। किसी वस्तु को प्रचुर मात्रा में

प्राप्त करने और उसे अधिक समय तक टिकाए रखने के लिए व्यक्तिगत विशेषताओं की आवश्यकता है। किसी की कृपा से कुछ सुख-सुविधा प्राप्त हो भी जाए तो वह न तो अधिक समय ठहरती है और न वह उसकी उन्नति में सहायक होती है, वरन उलटा विपत्ति में फँसा देती है। दुर्गुणी मनुष्य को यदि कहीं से एक लाख रुपया अनायास ही मिल जाए, तो वह फैशनपरस्ती और दुष्कर्मों में थोड़े ही समय में उसे फूँककर बराबर कर देगा। उसके हाथ बीमारी, बदनामी, दुश्मनी, शोक, पश्चात्ताप ही रहेंगे। उस रुपये से जितना सुख उठाया था, उसकी अपेक्षा अनेकों गुना दुःख-शोक ही पल्ले बँध जाएगा। इस प्रकार अंततः वह एक लाख रुपया उस दुर्गुणी मनुष्य की भीतरी और बाहरी अशांति का ही कारण बनेगा। उसका लोक और परलोक उससे बनेगा नहीं, उलटा बिगड़ेगा।

एक उत्तम प्रकृति का, भले स्वभाव का आदमी छोटे घर में पैदा होकर भी अपने सद्गुणों के कारण लोगों के हृदयों में अपने लिए स्थान प्राप्त करता है। रुपया कमाता है, बड़ा बनता है, यशस्वी होता है, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, चारों ओर से उस पर सहायता बरसती है, सच्चे मित्र उसके स्वभाव की सुगंध के कारण उसके आस-पास मँडराते रहते हैं। ऐसी प्रकृति के मनुष्य के लिए उसकी गरीबी भी अमीरी से बढ़कर है। जो आनंद और उल्लास बदमिजाज अमीरों को कभी स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता, उसे वह अपनी मामूली दशा में भी प्राप्त करता है।

सुखों की कुंजी लोग बाहर तलाश करते हैं। अमुक देवी-देवता, नक्षत्र, भूत-पलीत, जंत्र-मंत्र, राजा-रईस, संत-महंत की कृपा से जो लोग अपने को सुखी बनाने की आशा करते हैं, वे भारी भूल में हैं। दुनिया में केवल एक ही शक्ति है, जो मनुष्य का

उत्थान-पतन करती है, वह है—'अपनी मानसिक स्थिति।' जो कोई महत्त्व को प्राप्त हुआ है, इसी महाशक्ति की कृपा से हुआ है, जिसका नाश हुआ है, इसी के शाप से हुआ है। दूसरों की सहायता से हम अपनी इस शक्ति को उत्तमता के द्वारा स्थायी महत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, किंतु ऐसा नहीं हो सकता कि हमारी अयोग्यताएँ जहाँ-की-तहाँ बनी रहें और अनायास ही सुख-सौभाग्य प्राप्त हो जाए। चोरी, जुआ, बेईमानी आदि के द्वारा कोई व्यक्ति थोड़े समय में अयोग्यताएँ होते हुए भी धनी बन सकता है, परंतु स्मरण रहे कि वह धन उसे आंतरिक सुख जरा भी न दे सकेगा, उलटी उसे अशांति और क्लेश की जलती ज्वाला में धकेल देगा। ऐसी संपत्ति का होना, न होने से भी बुरा है।

यदि आप चाहते हैं कि समाज में आपका आदर हो, हर जगह आपकी बात पूछी जाए सर्वत्र आपकी प्रशंसा हो, सब लोग आपके ऊपर स्नेह रखें, सच्चे मित्रों और सहायकों की वृद्धि हो, स्वास्थ्य उत्तम रहे, किसी वियोग या विपत्ति का सामना न करना पड़े, घर वाले सिर आँखों पर रखें, बड़े-बूढ़े आशीर्वाद दिया करें, छोटे आज्ञापालन में खड़े रहें, पत्नी प्राण के समान प्रिय समझे, बराबर वालों की भुजा समझे जाएँ, समाज आपको अपना नेता माने, आपके चेहरे पर प्रसन्नता नाचती रहे, अंतःकरण आनंद में डूबा रहे, व्यापार आपका खूब चमके, मजदूर दूसरी जगह की अपेक्षा आपके यहाँ काम करना पसंद करें, ग्राहक आपको छोड़ना न चाहें—ये सब बातें आपको प्राप्त हो सकती हैं, निश्चय हो सकती हैं। हम शपथपूर्वक कहते हैं कि उपर्युक्त सिद्धियों को प्राप्त करना मनुष्य के लिए बिलकुल आसान है। यदि तीव्र इच्छा और दृढ़ साधना किसी में मौजूद है, तो उसके लिए उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त करना एक हँसी खेल के समान है।

शास्त्र कहता है कि '**सत्यं सुख संजयति**' सत् से सुख उपजता है। यदि आप अपने को सुखी बनाना चाहते है, तो अपने अंदर दृष्टि डालिए, बुराइयों का सुधार कीजिए, अपने में सद्गुण उत्पन्न कीजिए। 'स्व' को सँभालते ही पर सँभल जाता है। दुनिया दर्पण है, इसमें अपनी ही शक्ल दिखाई पड़ती है। पक्के मकान में आवाज गूँजकर प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है, इसी प्रकार अपने गुण-कर्म-स्वभावों के अनुरूप प्रत्युत्तर संसार से मिलता है। हम जिधर चलेंगे छाया भी पीछे-पीछे उधर ही चलेगी। इसलिए उचित है कि सुख प्राप्त करने का अपने को अधिकारी बनावें, अपने आचरण और विचारों में समुचित संशोधन करें, यही सफलता का मार्ग है।

स्वभाव की उत्तमता में सहृदयता का बहुत ऊँचा स्थान है। अरस्तू का कथन है कि "सच्चे अर्थों में मनुष्य वही कहा जा सकता है, जो सहृदय है। सहृदयता में ही सच्चा सौंदर्य दिया हुआ है।"

रूखापन, जीवन की सबसे बड़ी कुरूपता है। कई आदमियों का स्वभाव बड़ा नीरस, रूखा, शुष्क, निष्ठुर, कठोर और अनुदार होता है। उनका आत्मीयता का दायरा बहुत ही छोटा और संकुचित होता है। उस दायरे से बाहर के व्यक्तियों तथा पदार्थों में उन्हें कुछ दिलचस्पी नहीं होती। किसी हानि-लाभ, उन्नति-अवनति, खुशी-रंज, अच्छाई-बुराई से उन्हें कुछ मतलब नहीं होता। अपने अत्यंत ही छोटे दायरे में स्त्री, पुत्र, तिजोरी, मोटर, मकान आदि में उन्हें थोड़ा रस जरूर होता है, बाकी की अन्य वस्तुओं के प्रति उनके मन में बहुत ही अनुदारतापूर्ण रुखाई होती है। कोई-कोई तो इतने कंजूस होते हैं कि अपने शरीर के अतिरिक्त अपनी छाया पर भी उदारता या कृपा नहीं दिखाना चाहते। इससे भी महाकंजूस इतने बढ़े-चढ़े होते हैं कि ये कंजूसी में ही तन्मय हो जाते हैं, आत्मा के साथ कृपा करना तो दूर शरीर के साथ

भी उदारता दिखाना नहीं चाहते। अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र, अच्छे मकान आदि आवश्यक वस्तुओं में भी आवश्यकता से अधिक कठोरता करते हैं। ऐसे रूखे आदमी यह समझ ही नहीं सकते कि मनुष्य जीवन में कोई आनंद भी है। अपने रूखेपन के प्रत्युत्तर में दुनिया उन्हें बड़ी रूखी, नीरस, कर्कश, खुदगर्ज, कठोर और कुरूप मालूम पड़ती है।

रूखापन जीवन की बड़ी भारी कुरूपता है। रूखी रोटी में क्या मजा है, रूखे बाल कैसे खराब लगते हैं, रूखी मशीन में बड़ी आवाज होती है और पुरजे जल्दी ही टूट जाते हैं। रूखे रेगिस्तान में जहाँ रेत का सूखा हुआ समुद्र पड़ा है कौन रहना पसंद करेगा? वैसे तो प्राणिमात्र ही विशेष रूप से ऐसे ही तत्त्वों से निर्मित है, जिसके लिए सरसता की, स्निग्धता की, आवश्यकता है। मनुष्य का अंत:करण रसिक है, कवि है, सौंदर्य उपासक है, कलाप्रिय है, प्रेममय है, हृदय का यही गुण है। सहृदयता का अर्थ कोमलता, मधुरता, आर्द्रता है, जिसमें यह गुण नहीं, उसे हृदयहीन कहा जाता है। हृदयहीन का तात्पर्य है जड़-पशुओं से भी नीचा। नीतिकार का कथन है कि **"साहित्यसंगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"** इस उक्ति में कला विहीन-नीरस मनुष्य को पशुओं से भी नीचा ठहराया गया है क्योंकि पशुओं में तो सींग पूँछ की दो विशेषताएँ तब भी हैं, उस मनुष्य में तो इनका भी अभाव है।

जिसने अपनी विचारणा और भावनाओं को शुष्क, नीरस और कठोर बना रखा है, वह मानव जीवन के वास्तविक रस का आस्वादन करने से वंचित ही रहेगा। उस बेचारे ने व्यर्थ ही जीवन धारण किया और वृथा ही मनुष्य शरीर को कलंकित किया। आनंद का स्रोत सरसता की अनुभूतियों में है। परमात्मा को आनंदमय कहा जाता है। क्यों? इसलिए कि वह सरस है, प्रेममय है। श्रुति कहती है—

'रसौवसः' अर्थात वह परमात्मा रसमय है। भक्ति द्वारा, प्रेम द्वारा, परमात्मा को प्राप्त करना संभव बताया गया है। निस्संदेह जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा दीनबंधु, करुणासिंधु, रसिक बिहारी, प्रेम का अवतार, करुणा निधान, भक्त वत्सल है। उसे प्राप्त करने के लिए अपने अंदर वैसी ही लचीली, कोमल, स्निग्ध, सरस भावनाएँ पैदा करनी पड़ती हैं। भगवान भक्ति के वश में है, जिनका हृदय कोमल है, भावुक है, परमात्मा उनसे दूर नहीं है।

आप अपने हृदय को कोमल, द्रवित, पसीजने वाला, दयालु, प्रेमी और सरस बनाइए। संसार के पदार्थों में जो सरसता का, सौंदर्य का अपार भंडार भरा हुआ है, उसे ढूँढ़ना और प्राप्त करना सीखिए। अपनी भावनाओं को जब आप कोमल बना लेते हैं, तो आपको अपने चारों ओर अमृत झरता हुआ अनुभव होने लगता है। जड़ वस्तुओं पर दृष्टि डालिए, हर एक वस्तु अपने-अपने ढंग की अनूठी है, वह अपने कलाकार की अमर कीर्ति का अपनी मूकवाणी द्वारा बड़ी ही भावुक भाषा में वर्णन कर रही है। मखमल-सी घास, दूध के फेन से उज्ज्वल नदी-नाले, हँसते हुए पुष्प, खिलौनों से सुंदर कीट-पतंग, माता-सी दयालु गाएँ, भाई से साथी बैल, बफादार सेवक से घोड़े, स्वामिभक्त कुत्ते, जापानी खिलौनों से चलते-फिरते पक्षी, आप अपने चारों ओर देख सकते हैं। सिनेमा की-सी चलती-बोलती तसवीरें सब तरफ घूम रही हैं। नाटक का-सा अभिनय स्थान-स्थान पर हो रहा है। प्रकृति के कोमल दृश्यों का कवित्वमय भावुकता के साथ यदि आप निरीक्षण करें, तो सौंदर्य की अजस्र धाराएँ बहती हुई दिखाई देंगी। तसवीर-सा यह सुंदर संसार आपके दिल की मुरझाई हुई कली को हरी कर देने की परिपूर्ण क्षमता रखता है। भोले-भाले मीठी-मीठी बातें करते हुए बालक प्रेम की प्रतिमाएँ

देवियाँ, करुणामय मातृत्व की मूर्तियाँ माताएँ, अनुभव, ज्ञान और शुभ कामनाओं के प्रतीक वृद्धजन, यह सब ईश्वर की ऐसी आनंदमय विभूतियाँ हैं, जिन्हें देखकर मनुष्य का हृदय कमल के पुष्प के समान खिल जाना चाहिए। पग-पग पर आनंद और उल्लास के ढेर हमारे सामने लगे हुए हैं। इन दिव्य तत्त्वों के द्वारा हम अपने को रात-दिन आनंद में सराबोर रख सकते हैं, फिर भी हाय! हम कैसे अभागे हैं कि जीवन को दु:ख-शोकों से भरा रखते हैं। मनुष्य अपनी कोमल भावनाओं को जैसे-जैसे जाग्रत करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसे अमृत-तत्त्व का रसास्वादन होने लगता है। जिनके लिए सत् चित् आनंदस्वरूप आत्मा इस हाड़-मांस के शरीर में रहने को रजामंद हुई है, जिसके लोभ को संवरण न करके उसने मनुष्य शरीर धारण किया है। जीवन की सार्थकता उन कोमल वृत्तियों की मधुरता का रसास्वादन करने में है।

सिद्धि के सिद्धांत

अध्यात्मविद्या में जिन्होंने थोड़ा-बहुत भी प्रवेश किया है; वे जानते हैं कि साधना से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अष्टसिद्धि और नवनिद्धि प्रसिद्ध हैं। विभिन्न योगों द्वारा विभिन्न शक्तियों का मिलना प्रकट ही है। इंद्रियों के आकर्षक भोगों को सुख-सुविधा को, ऐशोआराम को छोड़कर कोई व्यक्ति कष्टदायक, कठोर, नीरस, श्रमसाध्य साधना में प्रवृत्त होता है, तो वह ऐसा करने के लिए यों ही उद्यत नहीं हो जाता। ज्यादा कीमती चीज के लिए कम कीमती चीज का त्याग किया जाता है। साधना का कष्ट इसलिए सहन करते हैं कि जिन सुखों का त्याग किया गया है, उससे अधिक मूल्यवान सुख प्राप्त हो। यदि ऐसा न होता तो कोई भी व्यक्ति-साधना का कष्ट सहने को तैयार न होता।

अनेक अवसरों पर अनेक व्यक्तियों द्वारा ऐसे कार्य करते हुए किन्हीं व्यक्तियों को देखा जाता है कि वैसे कार्य साधारण आदमी आमतौर पर नहीं कर सकता। आम जनता के साधारण दायरे से बाहर की जो चीज होती है, वह सिद्धि कहलाती है। जैसे हवा में उड़ने वाला मनुष्य सिद्ध कहा जाएगा, किंतु पक्षी को कोई सिद्ध न कहेगा। पक्षी आमतौर से उड़ते हैं, इसलिए उनके उड़ने में कुछ अचंभा नहीं है। मनुष्य के उड़ने में इसलिए अचंभा है क्योंकि आमतौर से मनुष्य (प्राणी) उड़ा नहीं करता। पानी में रहना हमारे लिए सिद्धि है, मछली के लिए नहीं। एक घंटे में बीस मील की चाल से दौड़ना हमारे लिए सिद्धि है, पर घोड़े के लिए नहीं। हाथी को कोई मनुष्य पछाड़ दे, तो उसे सिद्ध कहा जाएगा, किंतु सिंह जो

अकसर हाथियों को पछाड़ता रहता है, सिद्धि नहीं कहलाता। कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय जो बातें सब किसी में दिखाई नहीं पड़तीं, वे बातें किसी विशेष व्यक्ति में हों तो उसे आध्यात्मिक भाषा में 'सिद्ध' शब्द से पुकारा जाएगा। आश्चर्यजनक और असाधारण कार्यों का ही दूसरा नाम 'सिद्धि' है।

एक समय में जो बात साधारण होती है, वही बात समय और परिस्थिति के प्रभाव से असाधारण हो जाती है। सतयुग, त्रेता आदि प्राचीन युगों में अबकी अपेक्षा मनुष्य अधिक ऊँचा, लंबा, चौड़ा, अधिक खाने वाला और अधिक काम करने वाला होता था, किंतु इस समय में तब की अपेक्षा आदमी की काया, खुराक और मजबूती बहुत घट गई है। सतयुग के लंबे-तड़ंगे आदमी को अब लाकर दिखाया जाए या अब के आदमियों को सतयुग वालों को दिखाया जाता, तो निस्संदेह आश्चर्य की सीमा न रहती। एक देश वाले दूसरे देश वालों के रीति-रिवाज, खान-पान, वेशभूषा और भाषा को आश्चर्यजनक समझते हैं। लेकिन अपने देश की प्रथा-प्रणाली किसी को अचरज की मालूम नहीं देतीं। सिद्धियाँ हमें आश्चर्य में डालती हैं, क्यों? इसलिए कि वे आम लोगों में वर्तमान समय में नहीं देखी जातीं। जो वस्तु सब किसी के पास नहीं है, वह आश्चर्य है, चमत्कार है, वैभव है। पीतल के बरतन हर किसी के घर में होते हैं, उन्हें देखकर कुछ कुतूहल नहीं होता। परंतु सोने की थाली में किसी को भोजन करते हुए देखते हैं, तो बार-बार उसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है। यदि सोना इतनी अधिक मात्रा में निकलने लगे कि घर-घर में सोने के बरतन हो जाएँ, तो पीतल की भाँति ही वह सोना भी आकर्षणहीन हो जाएगा। यदि सभी धनी, बँगले वाले, मोटर वाले, अमीर हो जाएँ, तो फिर उनकी ऐसी पूछ न रहेगी

जैसी कि अब है। सिद्धियों को देखकर आश्चर्य का होना ऐसा ही है। अधिक लोगों के पास जो योग्यताएँ नहीं हैं, उन्हें किन्हीं खास व्यक्तियों में देखकर विचित्रता प्रतीत होती है। चमत्कारी को देखकर हम अचंभा करते हैं तो भी वास्तव में स्वतः उनमें अचंभे की कोई बात नहीं है।

मनुष्य अनंत शक्तियों का महा भंडार है, उसके अंदर ऐसी महा सत्ताएँ सन्निहित हैं, जिनके एक-एक कण द्वारा एक-एक जड़ जगत का निर्माण हो सकता है। जितना बल उसके अंदर मौजूद है, उसका लाखवाँ भाग भी अपने प्रयोग में प्रायः नहीं ला पाता है। इस छिपे हुए महा भंडार में अगणित, अतुलित रत्नराशि छिपी पड़ी है, जो कोई जितना कुछ उसमें से निकाल लेता है, वह उतना ही धनी बन जाता है। परमात्मा का अमर राजकुमार अपने पिता की संपूर्ण शक्तियों का सच्चा उत्तराधिकारी है। इच्छा और प्रयत्न करते ही सब कुछ उसे मिल सकता है। क़ोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे यह अपने पिता के खजाने से न पा सकें। जितनी सिद्धियाँ अब तक सुनी या देखी गई हैं, वे सब बहुत थोड़ी हैं। अभी इनसे भी अनेक गुनी, अनंत गुनी तो वे छिपी ही पड़ी हैं। जब मनुष्य विकसित होते-होते परमात्मा को ही प्राप्त कर सकता है, स्वयं परमात्मा बन सकता है तो उन सब महानताओं और शक्तियों को भी पा सकता है, जो परमात्मा के हाथ में हैं। परमात्मा की इच्छा से हर एक असंभव बात संभव हो सकती है, फिर परमात्मा की स्थिति में पहुँचा हुआ मनुष्य भी वैसा ही असंभव को संभव करके दिखा देने वाला हो सकता है। सिद्धियाँ असंभव हैं, ऐसा कहना भ्रममूलक है। एक-से-एक आश्चर्यजनक चमत्कारी कार्य मनुष्यों द्वारा हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे। हमारी क्षमताओं की संभावना इतनी ऊँची हैं कि साधारण बुद्धि से उसकी कल्पना करना

भी कठिन है। हर एक असंभव बात मानव प्रयत्न के द्वारा संभव हुई है और हो सकती है।

जलते हुए अंगार के ऊपर जब राख जमा हो जाती है, तो वह राख से ढका हुआ अंगार बाहर से छूने पर गरम नहीं मालूम पड़ता, किंतु जैसे-जैसे उस राख को हटाया जाता है, वैसे-ही-वैसे गरमी बढ़ने लगती है। जब वह पूर्ण रूप से हट जाती है, तो अंगार इतना गरम निकल आता है कि उसे छूना कठिन होता है। एक जलती हुई बिजली की बत्ती को कपड़े के अनेक पर्तों से ढक दिया जाए, तो उसका प्रकाश कपड़ों से बाहर न आ सकेगा, किंतु जैसे-जैसे उन पर्तों को हटाते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे प्रकाश बढ़ता जाता है। जब सारे पर्त अलग हो जाते हैं, तो स्वच्छ बिजली की बत्ती निकल आती है और उसके प्रकाश से चारों ओर जगमग होने लगता है। जलाने वाला अंगार वही था, उसके अंदर दाहक शक्ति सदा से मौजूद थी, परंतु राख ने उसे ढक दिया था। बिजली की बत्ती वैसी ही जल रही थी, परंतु कपड़े के पर्तों से ढके होने से प्रकाश बंद था। यही बात मनुष्य की है। वह अनंत शक्तियों का भंडार है, किंतु दुर्वासना, दुर्भावना, कुविचार, भोग-लिप्सा, अनीति आदि आवरणों के पर्तों से वे ढक जाती हैं। यह पर्त इतनी अधिक मात्रा में जमा हो जाते हैं कि मनुष्य एक बहुत ही तुच्छ, निर्बल, असहाय बेवश और दीन-हीन प्राणी मात्र रह जाता है। पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों की अपेक्षा भी उसका बल साहस और सुख कम रह जाता है। तरह-तरह के कष्टों से रोता-कलपता रहता है, अपने छोटे-मोटे दुःख-दारिद्रों को भी वह हटा नहीं पाता। ऐसी पतित अवस्था में पड़ा हुआ जीव यदि आध्यात्मिक सिद्धि को देखकर हैरत में पड़ जाता है और उसके अस्तित्व पर अविश्वास करने लगता है, तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

"जब हम अपनी कुवासना और दुर्भावनाओं को हटाकर सद्‌वृत्तियों और सद्‌भावनाओं को निखारते हैं, तो आत्मतेज निर्मल होकर अपनी अनंत महत्ताओं को प्रकट करने लगता है। यह प्राकट्य ही सिद्धि है। पातंजलि योगसूत्र जिन्होंने पढ़ा है, वे जानते हैं कि यम-नियम (अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान) ये सिद्धियों के मूल स्रोत हैं। अहिंसा पालन करने से उसके समीप पहुँचने वाले आपस का बैरभाव भूल जाते हैं। गाय, सिंह पास-पास बैठी रहती हैं। सत्य का पालन करने से वाणी सत्य होती है, जो शाप-वरदान दिया जाए, सफल होता है। आस्तेय का पालन करने से सब रत्नों की प्राप्ति होती है, लक्ष्मी की कमी नहीं रहती। परिग्रह से पूर्वजन्मों का हाल मालूम होता है। तप से शरीर हलका और दूरदृष्टि मिलती है आदि।" पातंजलि के इस कथन पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि ये सिद्धियाँ बाहर से प्राप्त नहीं होती। कोई पुरस्कार की तरह इन्हें प्रदान नहीं करता, वरन यह सब अपनी आंतरिक योग्यताओं का निखार मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, लोभ, मलिनता, तृष्णा, आलस्य, अविद्या, नास्तिकता आदि दुर्गुणों के कारण भीतर की दिव्य शक्तियाँ निर्बल, कुंठित और नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। जैसे-जैसे इन कमजोरियों को हटाकर हम अपनी स्वाभाविक, सात्त्विक अवस्था की ओर चलते हैं, वैसे-वैसे हम सफल, विजयी, समृद्ध, सिद्ध और महान बनते जाते हैं।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा